अज्ञेय की औपन्यासिक संचेतना

प्रेरणा के स्रोत
अग्रज प्रो० वीरेन्द्रकुमार राय
की
पुण्य स्मृति
को
अश्रु विगलित क्षणों में

—नन्दकुमार राय

अज्ञेय की औपन्यासिक संचेतना

डॉ० नन्दकुमार राय

शारदा प्रकाशन, नई दिल्ली

।। अज्ञेय की औपन्यासिक संचेतना ।। आलोचना ।।
।। डॉ० नन्दकुमार राय ।।

।। प्रकाशक ।।
शारदा प्रकाशन
★ 33/1 भूलभुलैया रोड, महरौली
नई दिल्ली-110030
★ 16/एफ-3, अंसारी रोड,
नई दिल्ली-110002

।। मुद्रक ।।
जे० एस० प्रिंटर्स, दिल्ली

।। मूल्य ।।
55 00 रुपये

।। विजयदेव शारी द्वारा शारदा प्रकाशन नई दिल्ली के लिए प्रकाशित एवं जे० एस० प्रिंटर्स, मौजपुर, शाहदरा दिल्ली 110032 में मुद्रित ।।

आलोक

अज्ञेय की औपन्यासिक सवेतना मेरी लेखन-यात्रा का तीसरा पडाव है। इस पडाव तक आते-आते ऐसा लगा कि अज्ञेय आधुनिक साहित्य के सर्वाधिक समर्थ, सवेदनशील और जीवन्त लेखक एव कवि हैं। काव्य के क्षेत्र मे ही नहीं अपितु कथा-साहित्य मे भी उन्होंने प्रयोग-वैविध्य से काम लिया है। गिनती के नाम पर उनके उपन्यास केवल तीन हैं। फिर भी, इस उपन्यास-त्रयी के माध्यम से उन्होने आधुनिक उपन्यास-साहित्य मे शीर्षस्थता प्राप्त करली है। इसका मूल कारण यह है कि एक तो उन्होने अपने इन उपन्यासो मे आधुनिकता की चुनौती को सही अर्थो मे स्वीकार किया है और दूसरी बात, जो अधिक महत्त्वपूर्ण है, वह यह कि उन्होने अत्याधुनिक सवेदनाओ—कुण्ठा, सत्रास, नैराश्य, घुटन तथा टूटन आदि को रचनात्मक सम्प्रेषणीयता प्रदान की है तथा आधुनिक परिप्रेक्ष्य मे मूल्यो को अन्वेषित कर उन्हें नये आयामो मे आयत्त किया है। चूँकि उनके उपन्यासो म चिन्तन की गूढ़ता, प्रत्ययो की कसावट और सवेदना की सश्लिष्टता का समवेत सामजस्य मिलता है, इसीलिए इनके भीतर से एक प्रकार की स्वाभाविक जटिलता, वशमवश रूप धारण कर प्रत्यक्ष होती है।

प्रस्तुत पुस्तक मे अज्ञेय के उपन्यासो के जाटिल्य-वोध और उसकी दुर्बोधता को अधिकाधिक ग्राह्य बनाने के लिए मुख्यतया विश्लेषणात्मक प्रणाली का प्रयोग किया गया है। इस सन्दर्भ मे उनके उपन्यासो पर आवृत्त चिन्तन, वैचारिक प्रत्ययो की परतो एव सश्लिष्ट सवेदनाओ को अनावृत कर रस-पेशिल बनाने का प्रयास किया गया है, ताकि आलोचना अधिकाधिक तात्त्विक और ग्राह्य बन सके।

अज्ञेय मूल रूप से मानव-मन के आभ्यन्तर के कथा-शिल्पी हैं। इनके उपन्यासो मे घटनाओ का विस्तार न होकर मानव के अवचेतन-अचेतन मन की आन्तरिक गुत्थियो तथा सूक्ष्म सवेदनाओ के पर्य्यांकन और विश्लेषण का

आधिक्य मिलता है। साथ ही उनके उपन्यासो मे 'वस्तु' और 'शिल्प' की नव्यता का प्रामुख्य है। अतः ये उपन्यास सर्वथा 'प्रयोगशील' और सही माने मे आधुनिक है। अज्ञेय के उपन्यासो मे निहित आधुनिकता की प्रक्रिया का यहाँ व्यापक फलक पर दिग्विस्तार किया गया है।

यह लेखन-यात्रा सहृ-बन्धु प्रो० मोतीलाल जोतवाणी के प्रस्ताव, प्रोत्साहन और उनकी स्नेहिल सद्प्रेरणाओ के बिना शायद ही पूरी हो पाती। दरअसल, उनकी मेधा का आदमी होना बडा कठिन है। उनके प्रति अन्त की मूक कृतज्ञता ज्ञापित न करूँ, तो सृजन का मूल उत्स कहाँ पा सकूँगा?

पत्नी के अमित सहयोग तथा आत्मजा अजु की जिज्ञासा व तकाजा के कारण पुस्तक का प्रकाशन शीघ्रता से हो सका। अत दोना के प्रति सचित स्नेह आर्द्र होकर उमड पडता है।

उन समस्त लेखको—विचारको का लेखक आभारी है, जिनकी सामग्री के उपयोग के बिना इस योजना का अनुष्ठान हो पाना मुश्किल था।

—नन्दकुमार राय

हिन्दी-विभाग,
देशबन्धु कॉलेज (सान्ध्य)
[दिल्ली विश्वविद्यालय]
कालकाजी, नई दिल्ली।

अनुक्रम

1

आधुनिक हिन्दी-उपन्यास
यात्रा-संदर्भ और अज्ञेय

उपन्यास पर जब हम 'आधुनिक' अथवा 'आधुनिकता' का 'लेबल' लगाते हैं तो निश्चित रूप से हमारा दृष्टिकोण उसकी सद्य स्थिति पर ही स्थित होता है। आधुनिकता समसामयिक बोध से सम्बद्ध हुआ करती है। इसका सीधा सम्बन्ध युग-चेतना यानी साम्प्रतिक संवेदनाओं और अर्थ व्यजनाओ से है। आधुनिकता परम्परा—जडीभूत परम्परा—को बेरहमी के साथ काटकर नयी चेतना को आलोकित करने का प्रयत्न करती है। परम्परा अतीत-सर्वाद्वित होती है। इसका गठबन्धन 'रोमांटिसिज्म' के साथ होता है। आधुनिकता चूँकि वर्तमान के वातायन से भविष्य के नये क्षितिज की ओर झाँकने की आदी और प्रवृत्त होती है, इसलिए अतीत से आबद्ध रोमांटिसिज्म से वह परहेज किया करती है। बौद्धिकता के छानना-पत्र से तथ्यों को छानकर ग्रहण करना इसका सबसे बडा लक्षण है। यही कारण है कि आधुनिक साहित्यकार तरल अनुभूति की जगह ठोस अथवा बौद्धिक अनुभूति (Intellectualised feeling) को सजग अभिव्यक्ति पर अधिक से अधिक बल देता है। किसी भी कृति के आधुनिक होने या कहलाने के लिए यह जरूरी है कि आधुनिकता की प्रक्रिया को वह रचनात्मक स्तर पर स्वीकार और ग्रहण कर सके तथा जीवन की अनुभूति मे नये 'विजन' को उजागर कर सके। कहने का आशय यह है कि आधुनिक साहित्य युग की तीव्रतम संवेदनाओं और सृजनप्रक्रिया को सही तौर पर अपने-आपमे सहेज-सँवारकर, फिर उसका प्रस्तुतीकरण करता है।

अज्ञेय की चर्चा आधुनिक हिन्दी-उपन्यास के परिप्रेक्ष्य मे सही माने मे तब जायज हो सकती है, जब इन्हें इनके पूर्ववर्ती उपन्यासकारो से अलग करके देखा जा सके। यह अलगाव दो दृष्टि-बिन्दुओ से सभव हो सकता है, एक, काल को आधार मानकर और दो, युग की विशिष्ट प्रवृत्तियो, सवेदनाओ एव सचेतनाओ की संश्लिष्टता की दृष्टि से। किन्तु साहित्य अथवा कृति के मूल्यांकन का सही पैमाना काल नही, बल्कि वाहन और सघन दृष्टिकोण ही हो सकता है। यह जरूरी नही है कि एक ही युग के समस्त लेखक अपने वर्तमान के प्रति यथावत्

रूप से संवेदनशील हो और समान रूप से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करें। कभी-कभार तो ऐसा भी देखा जाता है कि एक ही लेखक अपनी सम्पूर्ण लेखन-यात्रा मे आधुनिकता की प्रक्रिया का निर्वाह सही और समान तौर पर नहीं कर पाता। होता यह है कि उसके संस्कार की दिशा तो परम्परित विचारों की धरती मे गड़ी हुई होती है लेकिन कालांतर मे वैचारिक परिवर्तन के प्रवाह के साथ वह अग्रसर होने की ओर प्रवृत्त होता है। फलस्वरूप उसके विचार और चिन्तन मे आधुनिक संवेदनाओं की सुगबुगाहट स्वयमेव होने लगती है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण और उदाहरण प्रेमचन्द का उपन्यास और कथा-साहित्य माना जा सकता है। काल (इतिहास) की दृष्टि से प्रेमचन्द सर्वथा आधुनिक लेखक हैं, किन्तु संवेदना और अनुभूति के सातत्य की दृष्टि से 'गोदान' (1936) के पूर्व के प्रेमचन्द और गोदान व उसके बाद के प्रेमचन्द मे निश्चित रूप से एक प्रकार के अलगाव का बोध होता है। 'गोदान' के पूर्व के प्रेमचन्द-साहित्य मे सर्जन की वही प्रक्रिया नही मिलती, जो 'गोदान' अथवा उनकी कहानी 'कफन' या बाद की रचनाओं मे उपलब्ध होती है। इस सन्दर्भ मे डॉ० इन्द्रनाथ मदान का यह अभिमत सर्वथा सही प्रतीत होता है कि "1934-36 के आस पास कथाकारों की संवेदना म मौलिक अन्तर आ चुका था और प्रेमचन्द ने ही अपनी संवेदना का खण्डन करना शुरू कर दिया था। 'पूस की रात', 'कफन' तथा 'गोदान' तक आते-आते इनकी संवेदना बदल चुकी थी, इनकी रचना-प्रक्रिया मे भारी अन्तर आ गया था, आधुनिकता की प्रक्रिया सृजन मे अधिक बल पकड़ रही थी। इन कृतियों के अन्त मे विराम चिह्न की जगह प्रश्न-चिह्न लगा हुआ है, इनमे समाधान का संतोष न होकर समस्या का असन्तोष है, आधुनिकता की चुनौती का साक्षात्कार है।"[1] इस दृष्टि से मदान का यह कहना भी गलत नही होगा कि 'हिन्दी उपन्यास मे पहला मोड गोदान ने लिया है और प्रेमचन्द ने स्वयं बन्द अनुभूति की परम्परा को तोड़ा है, अपनी परम्परा को तोड़ा है।'[2]

किसी भी सर्जनात्मक कृति के मूल्यांकन के लिए यह विचार करना सबसे पहले आवश्यक है कि जिस विशिष्ट परिप्रेक्ष्य को रचनाकार झेल और भोग रहा है, उसे किस हद तक—कितनी ईमानदारी के साथ व्यक्त करने मे वह सक्षम हो रहा है। इसी को दूसरे शब्दों मे यो कहें कि जो रचनाकार रचनात्मक स्तर पर आधुनिकता की चुनौती को जिस हद तक सही-सही रूप मे स्वीकार कर, अपनी लेखन-यात्रा तय करता है, उसी मात्रा मे वह सफल भी माना जा

1 आज का हिन्दी-उपन्यास, पृ० 9
2. आधुनिकता और हिन्दी-साहित्य, पृ० 21

सकता है। किन्तु एक बात यहाँ ध्यातव्य यह है कि किसी भी [रचनात्मक] कृति को जब हम आधुनिकवाद अथवा किसी सिद्धान्त-विशेष की कसौटी पर परखते हैं तो इसका अर्थ यह है कि आरोपित मूल्यों का संधान हमारा लक्ष्य बन जाता है, जो न तो अपने आपमें सही मूल्यांकन है, न वास्तविक आलोचना ! सर्जनात्मक साहित्य मे वास्तविकता का सृजन होता है, जबकि आलोचक अपनी आलोचनात्मक कृति मे रचनात्मक स्तर पर उसी वास्तविकता का—उसी विशिष्ट संवेदना का पुनर्सर्जन कर उसका ग्रहण व प्रस्तुतीकरण करता है। यही कारण है कि जो उपक्रम सृजन के धरातल पर एक रचनाकार करता है, प्रायः उसी उपक्रम को आलोचक भी अपनी कृतियो मे दुहराता तथा अपनी आन्तरिक गुत्थियो को सुलझाने की चेष्टा करता है। इसी वजह से आज की आलोचना—नयी आलोचना को लगभग वही महत्ता प्राप्त है, जो किसी (मौलिक) रचना को। सम्प्रति, यह मौलिकता इसके लिए भी उपवाच्य बन गई है।

आज की ताजा रचनाओ मे रचनाकार आधुनिकता की चुनौती को विभिन्न स्तरों पर स्वीकार और ग्रहण करता है। अब पुरानी मान्यताओ एवं जीवन-दृष्टियों पर प्रश्न-चिह्न लग चुका है। यह प्रश्न-चिह्न हर उपन्यास में अलग-अलग ढंग से लगा हुआ है। इसलिए इनका पर्य्यवेक्षण भी अलग-अलग धरातल पर, अलग-अलग ढंग से करना होगा। आधुनिक हिन्दी उपन्यास 'वस्तु' और शिल्प—दोनों ही दृष्टियो से पुराने उपन्यास से अलग हो चुका है। इस संदर्भ मे स्कॉट जेम्स का यह कहना ठीक ही प्रतीत होता है कि मनोयोगपूर्वक लिखा गया हर उपन्यास विधि और शिल्प में अपनी पृथक् समस्या को उपस्थापित करता है।[1] इसी प्रकार डॉ० एच० वी० रूथ (Dr. H. V. Routh) ने अपना अभिमत यो व्यक्त किया है : "Art must always be renewed. Its creative influence depends on surprise. When once the freshness of the presentment has faded, the reader relapses into his daily habits."[2]

स्पष्ट है कि 'नवीनता' के प्रति आग्रह समस्त लेखकों का अभीष्ट है। आधुनिक कथाकार जैनेन्द्र कुमार कहते हैं : "मुझे ख्याल होता है कि कहीं ऐसा

1. "Every carefully written novel presents its own separate problem in method and technique."

—The Making of Literature. Page 37.

2. Dr. H V. Routh, "English Literature and Ideas in the Twentieth Century", Page 2.

तो नही कि कहानी कला या शिल्प हो ही नही, बल्कि सृष्टि हो। हर शिशु अपना बनाव और अपना स्वभाव लेकर जनमता है। दो प्राणी कभी एक-से हो ही नही सकते। कारण, वे सृष्ट होते हैं, बनते नही हैं। एक माता-पिता की सन्तति समान नही हो पाती। क्योंकि प्रत्येक सृष्टि पृथक् गर्भ का फल है। यानी अपना पृथक् आनन्द, पृथक् वेदना।"[1] प्रसिद्ध आलोचक पर्सी लुब्बक उपन्यास के शिल्प को गौण, कथ्य अथवा दृष्टिकोण को मुख्य मानते हैं। उनके विचार से—' उपन्यास-कला की शिल्प-विधि अथवा कारीगरी की जटिलता का निर्धारण मूलत कथाकार के दृष्टिकोण पर निर्भर है। कथाकार का कथा के साथ जो दृष्टिवाचक सम्बन्ध होता है, वही उपन्यास का शिल्प निर्धारित करता है।" यहाँ 'दृष्टिकोण' पर ही समग्र रूप से जोर दिया गया है।

ऊपर के समस्त उद्धरणो मे मूल रूप मे दृष्टिकोण, *तथ्य अथवा कथ्य*[3] पर ही अवधान दिया गया है।

हर लेखक का अपना-अपना निजी दृष्टिकोण, प्रत्यय और दर्शन होता है, जिसका आलेखन वह अपनी कृतियो मे अपने ढग से करता है। इसलिए बजाय इसके कि कृतियो का मूल्याकन किसी 'वाद' अथवा सिद्धात विशेष के आलोक मे किया जाये, यह अधिक उचित है कि रचनाकार की परख, रचनाकार की स्वानुभूति व चिन्तन-विधि के परिप्रेक्ष्य मे की जाए। अपनी बात को साफ शब्दो मे या कहे कि सही माने मे हर आधुनिक उपन्यास का विवेचन उसके अपने धरातल पर ही करना अधिक संगत होगा। इसका एकमात्र कारण यह है कि उपन्यास को परखने की कसौटी अब बदल चुकी है, पुराने और परम्परित प्रतिमान 'घिस' चुके हैं तथा मूलभूत सवेदना मे अलगाव का बोध होने लगा है।

जीवन की जटिलता, सकुलता एव समग्रात्मक सवेदना की दृष्टि से

1 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० 354 55

2 ' The whole intricate question of method in the craft of fiction, I take to be governed by the question of point of view, the question of the relation in which the narrator stands to story "

—'The Craft of Fiction', p 251.

3 प्रो० जगदीश पाण्डेय ने 'तथ्य और 'कथ्य की आन्तरिक सूक्ष्मता तथा उसके अन्तराल का विश्लेषण करते हुए लिखा है 'तथ्य अनुभूत पदार्थ होता है कथ्य अन्वेषित। कथ्य में जिज्ञासा की पैठ और तर्कपरक व्यग्य की पैनी धार की तेजी रहती है।'

—'कहानीकार जैनेद्र अभिज्ञान और उपलब्धि', पृ० 3

आधुनिक हिन्दी उपन्यास का परम्परित व प्राचीन उपन्यास से अलगाव प्रेमचन्द के 'गोदान' से मानना चाहिए क्योकि 'गोदान' के पूर्व प्रेमचन्द ने अपनी कृतियो को प्राय उसी पुरानी पूँजी से सँवारा है, जो उन्हे विरासत के रूप म परम्परा से प्राप्त थी। 'गोदान' तक आते-आते इनमे प्रगतिशील चेतना सक्रिय होने लगी। फलस्वरूप, यथार्थ के प्रति रुझान और आग्रह इनकी रचनाओं म अधिकाधिक मात्रा म परिलक्षित होने लगा। इस दृष्टि से, नलिनविलोचन शर्मा का यह परिकथन द्रष्टव्य है कि—"गोदान के पहले तक वे प्रेमचन्द हिन्दी उपन्यास के अतीत की चरम परिणति के पथचिह्न हैं। 'गोदान' के रचयिता प्रेमचन्द ही हिन्दी के वर्तमान और भविष्य के निदेशक हैं। प्रेमचन्द उस शिखर के समान है, जिसके दोनो ओर पर्वत के दो भागो के उतार-चढाव हैं।"[1]

प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासकारो का मूल उद्देश्य था—मनोरजन। इसके लिए वे कल्पना की कलात्मकता का प्रदर्शन किया करते थे। निस्सन्देह कुछेक उपन्यासकारो ने अपने उपन्यासो म सामाजिक चेतना को भी रेखाकित करने का प्रयास किया था। यही 'सामाजिक चेतना' और 'आदर्शमूलक दृष्टि' प्रेमचन्द को विरासत के रूप मे प्राप्त हुई थी, जिसका उपयोग उन्होने अपने आरम्भिक और बाद के कुछ उपन्यासो मे किया है। श्रद्धाराम, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा श्रीनिवास दास आदि की औपन्यासिक परम्परा को ही प्रेमचन्द ने 'प्रतिज्ञा', 'सेवासदन' तथा 'निर्मला' आदि अपनी रचनाओ म विकसित और परिपुष्ट किया है। किन्तु प्रेमचन्द की सबसे बडी विशेषता यह रही है कि रोमास, सस्ते मनोरजन और वायवी कल्पना से अलग हटकर उन्होने अपने उपन्यासो को एक नयी ज़मीन और मोड दी है। वह ज़मीन और मोड है—सामाजिक यथार्थवाद की। यही कारण है कि उनके प्राय समस्त उपन्यासो का मूल स्वर भी सामाजिक यथार्थवाद ही ठहरता है। किन्तु उनका यथार्थवाद कोरे आदर्श से कोई परहेज नही रखता। दरअसल, प्रेमचन्द का यथार्थवाद आदर्श की बैसाखी के बिना चल ही नही पाता। इसलिए उन्होने अपने औपन्यासिक और साहित्यिक दृष्टिकोण को 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कहकर प्रस्तुत किया है।

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासो मे समसामयिक युग-जीवन की समस्याओं और सवेदनाओ को सामाजिक परिप्रेक्ष्य मे परखने की चेष्टा की है। यहाँ तक कि व्यक्ति को भी वे समाज क कटघरे मे ही खडा करके देखना चाहते है। वस्तुत 'प्रेमचन्द अपने साहित्य द्वारा वर्ग-वैषम्य, आर्थिक शोषण, सामाजिक असमानता, पूँजीवादी सस्कृति एव बुर्जुआ मनोवृत्ति के विरुद्ध जनमत तैयार करना चाहते थे

1 'हिन्दी-उपन्यास' शीर्षक निबन्ध 'आलोचना इतिहास विशेषाक' पृ० 112

और उसे एक ऐसी व्यापक क्रान्ति (खूनी नहीं) के लिए तैयार करना चाहते थे, जिससे प्रगतिशील समाज की स्थापना हो सके और उन्नति करने का सबको समान अवसर प्राप्त हो सके।'[1]

यहाँ इतनी बात साफ हो जाती है कि प्रेमचन्द के उपन्यासों का धरातल स्पष्ट व मूल रूप से सामाजिक है। प्रकारान्तर से यों कह सकते हैं कि प्रेमचन्द ने आधुनिकता की चुनौती को सर्वथा सामाजिक स्तर पर ही स्वीकार किया है। यह स्वीकृति अपेक्षाकृत उनके विशिष्ट उपन्यास 'गोदान' में अधिक सश्लिष्ट रूप मे दिखाई पड़ती है। वास्तव मे हिन्दी उपन्यास का आधुनिक तथा नया मोड़ 'गोदान' (1934-36 ई०) से ही शुरू होता है, क्योंकि इसम आस्था की जगह अनास्था तथा प्राचीन व परम्परित रूढ़ात्मक सत्यों, समाधानों एव समझौतावादी दृष्टियो पर प्रश्न चिह्न लगा हुआ है। 'गोदान' न केवल 'होरी' का गोदान है, बल्कि वह सम्पूर्ण कृषक वर्ग का गोदान बन गया है। इसीलिए ऐसा कहा जाता है कि 'गोदान' कृषक जीवन का महाकाव्य है। वास्तविकता यह है कि 'होरी' व्यक्ति के रूप में एक समुदाय है, जिसमे एक ओर अपने वर्तमान के प्रति असन्तोष का भाव दिखाई पड़ता है तो दूसरी ओर, क्रान्ति की चेतना की कुलबुलाहट। फिर भी वह समझौते के रास्ते से गुजरता, अपने को दो छोरों से बचाता और अपनी समस्याओ का समाधान करता है। यह समाधान तो ठीक वैसा ही है, जैसे धू धूआती आग के ऊपर ईंधन की परत रख दी जाए और कुछ समय के लिए उसकी लपट तथा धुँआ दबकर अदृश्यमान हो जाए। होरी की समझौतावादी जीवन-दृष्टि पर 'गोबर' प्रश्न चिह्न लगाता है, जो नयी पीढ़ी की सवेदनाओ को झेल और भोग रहा है। 'गोबर' जहा गाँव के घुटन से ऊबकर शहर की ओर प्रयाण करता है, वहा निश्चित रूप से आधुनिकता की कशमकश का बोध होता है।

प्रेमचन्द ने जिस सशक्त परम्परा का सूत्रपात अपने उपन्यासो के माध्यम से किया, उसे ही परवर्ती उपन्यासकारो ने आधुनिक भाव-बोध के परिप्रेक्ष्य मे विकसित करने का प्रयास किया। फिर भी अन्तर यह है कि प्रेमचन्द मे जहाँ सामाजिक यथार्थ के प्रति अधिकाधिक आग्रह दिखाई पडता है, वहाँ परवर्त्ती उपन्यासकारों मे वैयक्तिक रुझान। प्रेमचन्द ने आधुनिकता की चुनौती को जहाँ सामाजिक धरातल पर स्वीकार किया है, वहाँ बाद के उपन्यासकारो, जैसे, जैनेन्द्र कुमार, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय तथा डा० देवराज आदि ने वैयक्तिक अनुभूति व सवेदना के रूप मे उसका साक्षात्कार किया है। इस प्रकार प्रेमचन्द के उपन्यासों मे जहाँ समष्टि-सत्य की बुनावट है, वहाँ परवर्ती उपन्यासकारो की

1. श्री लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—हिन्दी उपन्यास उपलब्धियाँ, पृ० 18

रचनाओ में व्यक्ति के अन्तर्मन की सूक्ष्म रेखाओ का पर्य्यवेक्षण, विश्लेषण और आकलन। स्पष्ट है कि आधुनिक हिन्दी-उपन्यास समष्टि-स्थूलता से अलग हटकर, व्यष्टि-सूक्ष्मता की दिशा म गतिमान है।

प्रेमचन्द के 'गोदान' (सन् 1934-36 ई०) तथा जैनेन्द्रकुमार के उपन्यास 'सुनीता' (सन् 1934 ई०) का रचना-काल (1934 ई०) बिल्कुल एक होते हुए भी दोनो मे एक व्यापक और मौलिक अन्तर यह है कि एक (प्रेमचन्द) का उपजीव्य सामाजिक चेतना और यथार्थ भाव-बोध है तो दूसरे (जैनेन्द्र) का उद्देश्य है—व्यक्तिमन के आन्तरिक खुरदुरेपन का विश्लेषण और चित्रण प्रस्तुत करना। "प्रेमचन्द के परवर्ती युग की समस्याएँ थी, पाप पुण्य की समस्या, प्रेम-विवाह की समस्या, शरीर-शुद्धि और आत्म शुद्धि की समस्या। ये समस्याएँ अपेक्षाकृत सूक्ष्म और व्यक्ति विशेष की समस्याएँ थी। इन समस्याओ के विश्लेषण और समाधान के लिए प्रेमचन्द के परवर्त्ती उपन्यासकारो ने अधिक-से-अधिक मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण की सहायता ली। यथार्थवाद की दिशा मे यह दूसरा चरण था।"[1] इस दूसरे चरण की शुरूआत होती है जैनेन्द्र के कथा-साहित्य स। जैसाकि कहा गया, इसमे व्यक्ति (पात्र) प्रधान हैं, वस्तु नहीं। इसलिए 'वस्तु' का मूल्याकन इनमे नही होता, होता है व्यक्ति के उपचेतन और अचेतन मन (Sub-conscious & Unconscious mind) का विश्लेषण और अध्ययन, जो मनोविज्ञान का प्रमुख विषय है। चूंकि व्यक्ति प्रमुख है, इसलिए पात्रों की भीड़ ऐसे (मनोविश्लेषणात्मक) उपन्यासो मे नहीं होती। जैनेन्द्र ने 'सुनीता' की प्रस्तावना मे अपना दृष्टिकोण इन शब्दो मे व्यक्त किया है : "' पुस्तक मे मैंने कहानी कोई लम्बी-चौडी नही कही है। कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य ही नहीं। अत. तीन-चार व्यक्तियो से ही मेरा काम चल गया है। इस विश्व के छोटे-से-छोटे खण्ड को लेकर हो हम अपना चित्र बना सकते हैं और उसमें सत्य के वर्णन पा सकते हैं और उसके द्वारा इस सत्य के दर्शन करा भी सकते हैं। जो ब्रह्मांड में है, वही पिण्ड मे भी है। इसलिए अपने चित्र के लिए बड़े कैनवास की जरूरत मुझे नहीं लगी। थोड़े में समग्रता क्यों नहीं दिखलाई जा सके?"

उपर्युक्त उद्धरण से तीन बातें हाथ लगती हैं :

1 कहानी कहना या सुनाना जैनेन्द्र का अभीष्ट नहीं है। यानी कथावस्तु की स्थूलता और व्यापकता को वे बिल्कुल आवश्यक नहीं मानते।

2 कथा मे 'सत्य' का वर्णन और उसका सम्प्रेषण ही जैनेन्द्र के लिए

1 हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद . भूमिका, डा० श्रीकृष्णलाल, पृ० 6

महत्त्वपूर्ण है। 'सत्य' केवल 'यथार्थ' नहीं है, बल्कि उससे भी श्रेष्ठ तत्त्व है। यथार्थ का स्वभाव बाहरी और क्षेत्र व्यापक होता है, जबकि 'सत्य' आभ्यन्तर और गहरा अर्थात् मानसी होता है। इसलिए उसका वर्णन और विश्लेषण यथार्थ की अपेक्षा अधिक दुरूह होता है।

3. जैनेन्द्र वस्तुतः थोड़े में समग्रता का दर्शन कराना चाहते हैं। सामान्य मनोविज्ञान का सिद्धान्त यह है कि जैसी उत्तेजना व्यक्ति के सामने होती है, उसके मन मे वैसी ही प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। इसे 'उत्तेजनाप्रतिक्रिया' (Stimulous Response) का सिद्धान्त कहते हैं। यह सिद्धान्त जैसे एक व्यक्ति पर घटित होता है, वैसे अनेक मनुष्यों पर भी लागू होता है। इसलिए एक व्यक्ति (पात्र) के अनुभूतिगत माध्यम से वे समग्रता तक पहुँचते और पहुँचना चाहते हैं।

जैनेन्द्र के प्रायः सभी उपन्यास ('जयवर्द्धन' को छोड़कर) मनोविश्लेषणात्मक और व्यक्ति-प्रधान हैं। मानव-मन (चरित्रों) के अन्तर्जगत् का विश्लेषण, उद्घाटन और उसका स्पष्टीकरण ही जैनेन्द्र के उपन्यासों का वैशिष्ट्य और लक्ष्य है। "उन्होंने व्यक्तित्व को मूलतः व्यक्ति मानकर उसकी मान्यताओं को वाणी देने का प्रयास किया है। वे व्यक्तिगत जीवन का चित्रण करते हुए बाहर से भीतर की ओर आए हैं, सामाजिक समस्याओं के स्थान पर व्यक्तिगत उलझनों का विश्लेषण करने लगे हैं। इसलिए उनके उपन्यासों को व्यक्तिवादी उपन्यासों की भी संज्ञा दी जाती है।"[1]

जैनेन्द्र सबसे पहले उपन्यासकार हैं, जिन्होंने प्रेमचन्द की पुरातन परम्परा पर प्रश्न-चिह्न लगाया है। प्रेमचन्द तक आती हुई सामाजिक चेतना और आदर्शमूलक प्रवृत्तियों को नजरअन्दाज कर, उन्होंने व्यक्ति-चेतना की शक्ति और सत्ता को स्वीकार कर, उसकी कुण्ठाओं तथा जटिलताओं को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। इसलिए उनके पात्र अपने ही अन्तर्लोक में डूबते-उतराते दीख पड़ते हैं। जैनेन्द्र के लिए 'दृष्टिकोण' ही प्रधान और मान्य है। शिल्प को वे बहुत महत्त्व नहीं देते, क्योंकि उनकी धारणा यह है कि शिल्प से किनारे बनते हैं, नदी का पानी नहीं बनता। कहानी का क्षेत्र वस्तु से अधिक व्यक्ति का है, स्थिति से अधिक गति का है।[2] कहने का अभिप्राय यह है कि उनके अनुसार कला (शिल्प) कथा को 'देह' तो प्रदान कर सकती है, किन्तु 'जान' नहीं डाल

1. (क) डा० सुषमा धवन : हिन्दी-उपन्यास · पृ० 169-70
   (ख) नन्ददुलारे वाजपेयी : 'नया साहित्य : नये प्रश्न', पृ० 184
2. 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० 355

सकती, जिससे उसमे 'धड़कन' आती है।[1] इस 'धड़कन' के लिए 'कथानक' का व्यापक आधार फलक ('कैनवास') नही, पात्रों की अन्तश्चेतना आवश्यक है, जिसका निर्वाह उन्होने अपने उपन्यासो मे भरपूर तौर पर किया है।

पात्रो के अवचेतन अथवा अचेतन मन प्रान्त के उद्‌घाटन और निरूपण के लिए मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार कई प्रकार के साधनो और विधियो का सहारा लेता है। अचेतन को उसके अचेतन रूप मे ही अभिव्यक्त नही किया जा सकता, क्योंकि स्पष्टत वह अज्ञात या अचेतन है। मात्र व्यक्ति की चेतन अभिव्यक्ति मे उभरने वाले प्रतीको जैसे, सस्मृत स्वप्नो, कल्पना अथवा वाणी या लेखन-स्खलन (Slips of the tongue or of the pen) आदि के द्वारा ही हम उसका अनुमान लगा सकते हैं।[2] आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में इसका प्रयोग अब पुरज़ोर तौर पर होने लगा है। सबसे पहले इसका प्रवर्त्तन जैनेन्द्र ने अपन प्रथम उपन्यास 'परख' (सन् 1929 ई०) मे किया।

जैनेन्द्र के उपन्यास है 'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', 'सुखदा', 'विवर्त', 'व्यतीत', 'जयवर्द्धन' तथा 'मुक्तिबोध'। इनमे 'जयवर्द्धन' को छोड़कर बाकी शेष सभी उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक उपपत्तियो की छाप तथा मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति का निसर्गत दर्शन और बोध होता है। 'परख' (सन् 1929) मे उपन्यासकार जैनेन्द्र ने उपन्यास के प्रमुख पात्र 'कट्टो' और 'सत्यधन' के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को विश्लेषित करने का उपक्रम किया है। उपन्यास का केन्द्रीय विषय है— 'कट्टो' और 'सत्यधन' का पारस्परिक प्रणय-व्यापार। उसके माध्यम से लेखक ने 'हृदय' और 'बुद्धि' अथवा 'व्यक्ति की स्वातन्त्र्य चेतना' तथा सामाजिक रूढियो और परम्परित—जड़ीभूत मान्यताओ से उद्भूत क्रिया प्रतिक्रियाओं का विवेचन विश्लेपण किया है। 'कट्टो' 'हृदय' का प्रतीक है और 'सत्यधन' 'बुद्धि' का। 'हृदय' व्यक्ति की स्वातन्त्र्य चेतना की ओर प्रवृत्त होता है और 'बुद्धि' सामाजिक मूल्यो व बन्धनो के द्वारा उसे संयत करना चाहती है।

1 वही, पृ० 355

2 " The unconscious cannot be expressed in its own unconscious form, since obviously this is unconscious We can only infer it from symbols emerging in the conscious expression of the person, such as remembered *dreams, fantasies, or slips of the tongue or of the pen* "

सत्यधन वकालत पास एक आदर्शवादी नवयुवक है। कट्टो उसके गाँव की बाल-विधवा है, जो सत्यधन के पास पढ़ने के लिए आया करती है। इसी बीच सत्यधन के मन में कट्टो के प्रति एक सहज आकर्षण का भाव उत्पन्न हो जाता है। सत्यधन का एक अनन्य मित्र है—बिहारी। बिहारी की एक बहन है—गरिमा। बिहारी के पिता अपनी आत्मजा—गरिमा की शादी सत्यधन के साथ करना चाहते हैं। कट्टो और गरिमा को लेकर सत्यधन दुविधा और असमंजस में पड़ जाता है। फिर भी भावात्मक रूप से कट्टो के प्रति ही उसके प्रेम का पलड़ा भारी है। कट्टो भी समग्र भावात्मक रूप से अपने अन्त. के संचित समस्त स्नेह और प्रेम को सत्यधन के प्रति समर्पित कर देती है। सत्यधन कट्टो के समक्ष बिहारी के साथ विवाह का प्रस्ताव रखता है और फिर बाद में उसकी सूनी माँग में बिहारी सिन्दूर की सुहाग-रेखा खींचकर अपनी पत्नी (सधवा) बना लेता है। उसके बाद सत्यधन भी बुद्धि से निर्देशित होकर गरिमा के साथ शादी करने को बाध्य हो जाता है। एक दिन ऐसा आता है, जब बिहारी के पिता अपनी सारी सम्पत्ति बिहारी के नाम छोड़कर मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। सत्यधन अपने स्वाभिमान के आहत होने के कारण किराये के एक मकान में रहने लगता है। कट्टो को इससे दुःख होता है। अतः वह उससे घर वापस चलने का आग्रह करती है, किन्तु सत्यधन इससे सहमत नहीं होता। अन्त में, कट्टो उसके हाथ में चालीस हजार रुपये की राशि देकर लौट आती है। सत्यधन के मन में उसके त्याग के प्रति एक असीम स्नेह और श्रद्धा का भाव उमड़ आता है और स्वयं अपने कर्मों के प्रति पश्चात्ताप, क्योंकि स्वयं उसने ही तो कट्टो को अपने-आपसे काटकर अलग कहीं जोड़ रखा था। अन्त में, बिहारी और कट्टो एक-दूसरे से अलग हट जाते हैं।

'परख' के प्रोक्त कथा-तत्व में किसी प्रकार की अनावश्यक विस्तार योजना नहीं दिखाई पड़ती। इसमें प्रमुखता कथावस्तु अथवा घटनाओं की न होकर पात्रों के मनोविश्लेषणात्मक चित्रण की है। इसके लिए लेखक को पात्रों (व्यक्ति) के अन्तर्मन की गहराई में बैठने की जरूरत होती है। इस दायित्व का निर्वाह सबसे पहले जैनेन्द्र ने अपने इस उपन्यास में किया है, जो प्रेमचन्द परम्परा से अलग की वस्तु है। इस पार्थक्य को, ओमप्रभाकर के इन शब्दों में प्रस्तुत कर सकते हैं : "भारतेन्दु युग से लेकर प्रेमचन्द एवं उनके अनुवर्ती उपन्यासकारों की रचनाओं तक में केवल दो आयाम—चौड़ाई (कथानक के परिवेश एवं परिप्रेक्ष्य के संदर्भ में) तथा लम्बाई (कथानक एवं घटनाओं के समायोजन की कल्पना-शीलता के सन्दर्भ में) ही प्रयुक्त होते थे, जबकि जैनेन्द्र की रचनाओं के साथ ही तीसरा आयाम गहराई (चरित्रांकन के संदर्भ में) भी हिन्दी-उपन्यास में चित्रित होने

लगा।"[1] कहने का अभिप्राय यह है कि जैनेन्द्र के कथा-साहित्य मे जो गहराई और बारीकी (सूक्ष्मता) है, वह प्रेमचन्द-परम्परा से सर्वथा इसे अलग और विशिष्ट धरातल प्रदान करती है। प्रेमचन्द के पात्र सामाजिक चेतना-प्रवाह में प्रवाहित होते हैं, जबकि जैनेन्द्र के पात्र सामाजिकता के नकाब को हटा और नकार कर अपने ही अन्तर्प्रदेश मे विचरण करते हैं। इसलिए प्रेमचन्द अपने पात्रों का मूल्यांकन पूर्व-निर्धारित सामाजिक मूल्यों के सदर्भ मे किया करते हैं, जबकि जैनेन्द्र व्यक्ति-मन की अतल गहराई मे उतरकर उसका निरीक्षण अन्तर्वीक्षण यत्र (Microscope) से करते है।

प्रेमचन्द समाज-अध्ययन अथवा समाज-दर्शन से अलग होकर नही सोचते, जबकि जैनेन्द्र सदा इससे कटकर व्यक्ति के मनोविज्ञान की गहराइयो मे अपनी राह का अन्वेषण करते हैं। दोनो मे मूलभूत अन्तर यह है कि एक (प्रेमचन्द) की दृष्टि मे समाज के कारण, समाज के लिए व्यक्ति है, जबकि दूसरे (जैनेन्द्र) की मान्यता यह है कि व्यक्ति ही प्रधान है। व्यक्ति के उत्थान-पतन पर ही समाज का उत्थान-पतन निर्भर करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रेमचन्द का चिन्तन दर्शन समाज की बैसाखी के बिना पगु है, जबकि जैनेन्द्र व्यक्ति के अन्तर्लोक का भ्रमण अपने आप करते हैं। हाँ, यह बात दूसरी है कि अपनी इस यात्रा में उन्हे मनोविज्ञान और दर्शन की चिन्तन पुष्टि का सहारा लेना पडता है। निष्कर्ष यह है कि प्रेमचन्द समाज के मुडेरे से व्यक्ति के धरातल तक आते हैं और जैनेन्द्र व्यक्ति की सीढ़ी से होकर समाज की छत पर चढ़ते हैं।

'परख' म उपन्यासकार जैनेन्द्र ने समाज-विधान-द्वारा विस्थापित कट्टो का वैधव्य सिन्दूरी-रेखा से मण्डित करके देखा-दिखाया है। निश्चित रूप से यहाँ लेखक ने समाज की पुरानी और खोखली मान्यता को झटका देकर आधुनिकता की चुनौती को स्वीकारा है। प्रेमचन्द मे इस साहस का सर्वथा अभाव है। एक बात और! प्रेमचन्द के उपन्यासो मे प्रेम की समस्या और सवेदना का निरूपण विवाह के पूर्व ही सीमित है, जबकि जैनेन्द्र की रचनाओं में यह समस्या विवाह के पश्चात् तीव्रता मे उठती है। डॉ० इन्द्रनाथ मदान के इस मतव्य के साथ सहमत होना बिल्कुल सहज है कि जैनेन्द्र के 'लगभग सभी उपन्यासो मे पति-पत्नी प्रेमी का योजनाबद्ध तिकोन, इनकी रचना-प्रक्रिया की यान्त्रिकता को सूचित करता है। × × × प्रेमचन्द प्रेम की परिणति को विवाह मे देखना चाहते है, नारी की नियति को पत्नी या माँ के रूप मे आँकते हैं, जबकि जैनेन्द्र की आस्था विवाह मे न होकर प्रेम म है। प्रेम एक वैयक्तिक मान्यता है और

1 अज्ञेय का कथा-साहित्य, पृ० 15

'काम-भावना' (सेक्स) के इस आंधी-तूफान में वह विवेक और मर्यादा तक को भूल जाती है : "मोहिनी ने जितेन के दाहिने हाथ को खींचकर बार-बार मुँह से लगाया, आँखों से लगाया, सारे चेहरे से लगाया और सुबकते-सुबकते कहा—'जितेन ! उठो !' जितेन ने कहा—'दरवाजा खुला है, बंद कर दो। इतनी नीच बनती हो। इसमें तुम्हें न आए, मुझे शरम आती है।" इस पर मोहिनी झुककर बूट के तस्मों से कुछ ऊपर पाँव के मोजों पर बार-बार जितेन के दोनों पैरों को चूम उठी।[1] वास्तव में यह मोहिनी की काम-भावना की चरम स्थिति है, जो सर्वथा मनोविज्ञान-सम्मत है, किन्तु डॉ० सुषमा धवन को नारी (मोहिनी) के इस निरीह आत्म-समर्पण में जुगुप्सा का बोध होता है,[2] परन्तु वास्तव में यह जुगुप्सा नहीं, प्रेम, शृंगार और काम-भावना का चरम-बिन्दु (क्लाइमेक्स) है, जहाँ पहुँचने के बाद नारी सम्पूर्ण रूप से पुरुष के ऊपर अपने अन्तस् के सारे कोमल भावों को उड़ेल देना चाहती है। ऐसी स्थिति में, उसमें न तो कोई बौद्धिक विभेद ही होता है और न किसी प्रकार के आवरण की परवाह अथवा चिन्ता ही। वास्तव में, यही 'काम' ('सेक्स') की सार्थकता है, जहाँ अनवरत रूप से माधुर्य का रस-वर्षण होता रहता है। अतः स्वयं नारी होने के कारण डॉ० सुषमा धवन ने तथ्य को नकार कर, उस पर जुगुप्सा-भाव का आरोपण कर, नारी-जाति के संकोच और लज्जा-वृत्ति का ही परिचय दिया है।

'त्यागपत्र' (सन् 1936 ई०) आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया जैनेन्द्र का एक ऐसा उपन्यास है, जिसमें (नायक) प्रमोद (सर एम० दयाल) तथा उसकी बुआ मृणाल (उपन्यास की नायिका) की मानसिक गुत्थियों को विश्लेषित किया गया है। उपन्यास का आरम्भ होता है—प्रत्यक् दर्शन-विधि (Flash back Technique) द्वारा। प्रमोद अपने अन्तस् की द्वन्द्वात्मक स्थिति तथा मानसिक तनावों के बीच कहता है . "नहीं भाई, पाप-पुण्य की समीक्षा मुझसे न होगी। जज हूँ, कानून की तराजू की मर्यादा जानता हूँ। इसलिए कहता हूँ कि जिनके ऊपर राई-रत्ती नाप-जोखकर पापी को पापी कहकर व्यवस्था देने का दायित्व है, वे अपनी जानें। मेरी बुआ पापिष्ठा नहीं थी, यह भी कहने वाला मैं कौन हूँ। पर आज मेरा जी अकेले में उन्हीं के लिए चार आँसू बहाता है।··· उन बुआ की याद जैसे मेरे सब कुछ को मट्टा बना देती है। क्या वह याद अब मुझे चैन लेने देगी···याद किया होगा, यह अनुमान करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं।"[3] पाप-पुण्य,

1 वही, पृ० 196
2 हिन्दी उपन्यास पृ० 194
3 जैनेन्द्र कुमार 'त्यागपत्र', प० 9

नैतिक-अनैतिक तथा श्लील-अश्लील के प्रश्नों को उपन्यासकार ने व्यक्ति-पात्र (मृणाल) के माध्यम से विवेचित किया है। किन्तु, कोई स्पष्ट समाधान न देकर प्रश्नों की दार्शनिकता और उलझनों में और भी अधिक उलझा देते हैं। 'मृणाल' ही वह केन्द्रस्थ पात्र है, जिसकी धुरी पर उपन्यास की कथा विभिन्न दिशाओं में मुड़ती हुई घूमती है। कथा, चाहे कथा भर रह जाए, किन्तु मृणाल सर्वथा सजीव, सवेदनशील और करुणा से स्नात है। इसलिए उसमे पाठकों की सहानुभूति ग्रहण करने की भरपूर क्षमता वर्तमान है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों मे "पूरे उपन्यास मे मृणाल का चरित्र, अपने असाधारण संकटो के कारण, पाठक की दृष्टि को आकृष्ट करता है। मृणाल के चरित्र मे उस प्रकार का हल्कापन नही है, जिस प्रकार का हल्कापन जैनेन्द्रजी के अन्य कतिपय नारी-पात्रो मे मिलता है। मृणाल की सारी पीड़ाएँ और वेदनाएँ सामाजिक असगतियो का परिणाम है। वह अपनी ओर से एकदम निरपराध है। जैनेन्द्र के अन्य नारी पात्रो मे पति की उपेक्षा करके पर-पुरुष के प्रति जो एक प्रच्छन्न आकर्षण मिलता है, वह भी इस उपन्यास की नायिका—मृणाल म व्यक्त नही है। जैनेन्द्र ने बडे कौशल के साथ उसे एक के बाद दूसरे और दूसरे के बाद तीसरे पुरुष से सम्बन्धित किया है। पर यहाँ वेदना के आधिक्य के कारण पाठक की सवेदना मृणाल को ही मिलती है।"[1]

मृणाल के चारित्रिक विश्लेषण के माध्यम से एक ओर आज के मनुष्य की कुण्ठा, घुटन और टूटन की सवेदना व्यक्त होती है तो दूसरी ओर समाज के रस्साकशी से विमुख होने—पलायन करने की प्रवृत्ति। मृणाल कोयले वाले को लेकर भाग जाती है किन्तु समाज के विधान को तोडने-फोडने मे सक्षम नहीं हो पाती। यह उसका पलायन है: पहले सामाजिक स्तर पर, फिर वैयक्तिक स्तर पर। यह उसकी आधुनिक सवेदना है। इस सम्बन्ध म डॉ० नगेन्द्र का यह मत उल्लेखनीय प्रतीत होता है: "मृणाल मे असाधारणता है। जीवन मे सदा नकार पाते रहकर भी उसका मन अतिशय सवेदनशील हो गया है। ऐसी स्थिति मे चुनाव का प्रश्न ही नही उठता। मृणाल के साथ यह स्थिति विवशता के अतिरिक्त चुनौती भी हो सकती है।"[2]

'कल्याणी' (1938 ई०) 'त्यागपत्र' के शिल्प पर लिखी गई जैनेन्द्र की एक ऐसी औपन्यासिक कृति है, जिसकी रचना आत्मकथानक शैली तथा प्रत्यक् दर्शन प्रणाली (Flash back Technique) के द्वारा हुई है। इसमे उपन्यास की

1 नन्ददुलारे वाजपेयी नया साहित्य नये प्रश्न, पृ० 199
2 डा० नगन्द्र 'विचार और अनुभूति', पृ० 140-141

नायिका 'कल्याणी' का अंतर्विश्लेषण बड़े कौशल के साथ किया गया है। पात्रो के द्वारा प्रयुक्त कथोपकथन के माध्यम से 'कल्याणी' का चारित्रिक विश्लेषण उद्घटित होता है। एक स्थल पर स्वय वह अपने चरित्र-विकास को इन शब्दा मे आत्मविश्लेषित करती है : "विवाह से पहले मैं—खुद थी। विवाह के बिना मैं रह सकती थी। मेरा बोझ मुझसे उठ सकता था, फिर भी मैं अविवाहित नही रही। चाहे जो कह दीजिए, नही रह सकती थी। क्योकि वही होता है। पर मैं अकेली अपने को भारी नही थी। मेरी सभी किताबें उसी काल लिखी गई। खैर, विवाह हुआ। वह एक कहानी है पर, छोडिए। विवाह से स्त्री पत्नी बनती है। पत्नी यानी गृहिणी। पत्नी से पहले स्त्री कुछ नहीं होती, बस वह कन्या होती है। पर मैं कुछ थी। निरी कन्या न थी, डॉक्टर थी। अब सवाल है मेरी शादी और मेरी डॉक्टरी, मेरा पत्नीत्व और मेरा निजत्व। ये परस्पर कैसे निभें ?"[1]

कल्याणी का सम्पूर्ण जीवन अन्तर्द्वन्द्वो से आक्रांत और बोझिल है। मानसिक उलझनो से वह ग्रस्त और परेशान है। जीवन में उसने वही सब कुछ किया, जो असभव लगता है। प्रारम्भ मे वह घोर आस्तिक प्रवृत्ति की है, पर बाद मे मानसिक अन्तर्द्वन्द्वो के आवर्त्त में पड़कर वह सर्वथा बदल जाती है, जिसका परिणाम यह होता है कि वह मादक द्रव्यो का सेवन करने लगती है और आस्तिक मन की आशा खो देती है। उसकी सम्पूर्ण मन स्थिति का ज्ञापन उसके अपने ही इस परिकथन से हो जाता है : "मैं नफरत करना चाहती हू। अपने से, सबसे। ईश्वर से। ईश्वर प्रेम है और प्रेम प्रवचना है। इससे ईश्वर प्रेम-प्रवचना है।"[2] घृणा और प्रेम मे परस्पर यमज-सम्बन्ध (Twins relations) होता है। दोनों एक-दूसरे के समानान्तर समानुपातिक गति से गतिमान होते हैं। एक ही व्यक्ति के अदर दोनो का अस्तित्व होना है। कभी एक की प्रबलता होती है तो कभी दूसरे की। कभी-कभार तो इस घृणा अथवा नफरत की परिणति आत्मपीडन मे होती है। कल्याणी इसका प्रमाण है, जो बाद मे आत्म-पीडन से अभिग्रस्त है। इस प्रकार, कथा मे दैहिकता तो अत्यल्प किन्तु मानसिकता ही प्रबल और तीव्र रूप मे दिखाई पडती है। डॉ० देवराज उपाध्याय का यह कहना कि—'मनोवैज्ञानिक उपन्यास म व्यक्ति नही रहता, विशुद्ध मानसिक वातावरण ही रहता है'[3]—कल्याणी के सन्दर्भ मे बिल्कुल उचित ठहरता है।

'व्यतीत' (सन् 1953 ई०) जैनेन्द्र का पुरुष प्रधान उपन्यास है, जिसकी

1 जैनेन्द्र 'कल्याणी' पृ० 32
2 जैनेन्द्र 'कल्याणी', पृ० 96
3 आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य और मनोविज्ञान, पृ० 149-150

समस्या लगभग वही है, जो 'सुनीता' या 'विवर्त' की रही है। इसका नायक जयन्त प्रत्यक्-दर्शन प्रणाली (Flash back Technique) और आत्मकथात्मक शैली मे अपने अतीत (व्यतीत) को मानस पटल पर दुहराता अथवा उनका प्रत्याह्वान (Recall) करता है। उपन्यास के प्रारम्भ मे ही जयन्त, जो भावुक और कवि है—अपनी पैतालीसवी वर्ष-गांठ के अवसर पर कहता है "व्यतीत! ... आज इस जन्म-तिथि के दिन सवेरे ही सवेरे यह क्या शब्द उठकर मेरे सारे अन्तरग म समाता रहा है। क्या इस पैतालीस वर्ष की अवस्था म यही अनुभव करूँ कि मैं अब व्यतीत हू। यह सोचते अचरज होता है, डर होता है। पैतालीस तो कोई अवस्था होती नही। इस वय मे बीत कर रह जाने का क्या मतलब है। लेकिन कुछ करूँ, इस बोध से छुट्टी नही मिलती है कि अब मैं बीते पर हूँ, आगे के लिए नही हू। सोचता हू कि यह क्या हो गया'' ।"[1]

प्रस्तुत उपन्यास की प्रेम-कथा भी जैनेन्द्र के अन्य उपन्यासो की भाँति त्रिपार्श्व पर स्थित है। अर्थात् सपूर्ण कहानी जयत, अनिता और मिस्टर पुरी के इर्द-गिर्द घूमती है। फिर भी, जयत ही वास्तव मे औपन्यासिक कथा की धुरी है। उसके चरित्र और अतर्व्यक्तित्व का सूक्ष्म विश्लेषण ही उपन्यासकार जैनेन्द्र का अभीष्ट है। एक आलोचक के मतानुसार—'व्यतीत' एक पुरुष की एक स्त्री के प्रति—जयत की अनिता के प्रति—रुग्ण आसक्ति (Morbid fixation) की अवस्था म पुरुष की मन स्थिति का लेखा है। इस आसक्ति के मूल म जयत की आहत अहमन्यता अवस्थित है।"[2] जयत असफल प्रेमी है। अनिता से उसका असीम प्यार है। सामाजिक बधन के कारण अनिता मिस्टर पुरी की परिणीता पत्नी बनती है। फिर भी दोनो का आंतरिक मन एक-दूसरे से चिपटा हुआ है। लेकिन उनकी नियति उन्हें एक देह नही होने दे पाती। जयत घोर भावुक है। स्थानापन्न के रूप में अनिता के मूल्य पर उसे किसी और नारी की देह काम्य नही है। अगर ऐसा होता तो वह सुमिता, बुधिया अथवा चन्द्री—किसी के भी साथ अपने तन-मन का गठबधन कर जीवन को सरस और सतुलित बनाने मे सक्षम होता। किन्तु, ऐसा नही हो पाता। अनिता का प्यार न मिल सकने से उसका मन टूट जाता है। फलस्वरूप, वह न तो सुमिता के प्रति आकृष्ट हो पाता है और न चन्द्री का होकर भी उसका अपना बन पाता है। अनिता के वियोग मे वह खासा एक मनोवैज्ञानिक पात्र है, जिसमे कभी तो हीनता-ग्रन्थि (Inferiority complex) जन्म लेती है और कभी अह तथा आत्मपीडन से ग्रस्त व परेशान है।

1 जैनेन्द्र 'व्यतीत', पृ० 1
2 रघुनाथ शरण झालानी 'जैनेन्द्र और उनके उपन्यास', पृ० 8

सामाजिक भेद-भाव और विषमता से वह घृणा करता है। वह कवि है। अत काव्य के प्रति उसके मन मे स्वाभाविक रुझान है। भावुक होने के कारण काव्य की सवेदना वह सबमे देखता और देखना चाहता है। वह सोचता और कहता है : 'कविता, मालूम होता है, सबमे है। उसी से अभेद है। लेकिन भेद पर समाज टिकता है। कविता से समाज को यही लाभ है और यही खतरा है। बुजुर्ग लोग भेद की लकीरो को पहचानते और पालते हैं। उन्हे यहाँ तक लगता है कि लकीरे ही सत्य की भाषा है। जवान किन्तु जिन्दगी के पास होते हैं और नीतिनियमो से दूर। इसी से कविता के पखों पर बैठकर मर्यादा की लकीरो को लाँघ जाना उन्हें उतना कठिन नही होता।'[1] इस उद्धरण से इतनी बात साफ हो जाती है कि जयन्त कविता के सहारे तथाकथित सामाजिक मर्यादा की सीमा का अतिक्रमण करना चाहता है। वास्तव मे, परम्परा और रूढि के विरुद्ध यह नये और स्वस्थ प्रत्यया के विचारो का प्रमाण है। मानो इस रचना के माध्यम से (भी) रचनाकार जैनेन्द्र ने नव्यतम सवेदनाओं को स्वीकार कर, रूढिवादी विचार-परम्परा के आगे प्रश्न-चिह्न लगाया है। अतएव कहा जा सकता है कि अपने इस उपन्यास मे जैनेन्द्र ने आधुनिकता की चुनौती का साक्षात्कार रचनात्मक स्तर पर किया है।

जयत अपने असफल प्रेम म इतना बिखर और टूट चुका है कि जीवन भी उसे असार और भार-स्वरूप प्रतीत होने लगा है। उसके मन की लघुत्व भावना, अहम्मन्यता, बिखराव और कुण्ठा की परिणति जीवन के प्रति पलायन और विकर्षण मे होती है। वह सोचता है, 'जीवन व्यर्थ भार ही है। क्यो कहीं इसे कभी देकर खो नही सका, ताकि कुछ पा जाता और यों भटकता न फिरता। लेकिन सुनता हू दूसरा भी जन्म है। अब तो उसी मे आस है।'[2] जयन्त की लघुत्व-भावना, अहम्मन्यता, निराशा, बिखराव, घुटन टूटन और कुण्ठा, वास्तव मे आज की नयी व अभिशप्त पीढी की बेबसी है, जिसका उद्घाटन और विश्लेषण करना जैनेन्द्र का परम उद्देश्य है। इस प्रकार, इस विवेचन के पश्चात् निष्कर्ष यह हाथ लगता है कि जैनेन्द्र ने अपने इन उपन्यासो के माध्यम से सर्वथा नयी सवेदना और नयी सचेतना को सम्प्रेषित करने का प्रयास किया है, जिसमे बहुत दूर तक उन्हें सफलता की उपलब्धि हुई भी है।

जैनेन्द्र के विवेचित इन सभी उपन्यासो की अपेक्षा उनके 'जयवर्द्धन' और 'मुक्तिबोध' मे पर्याप्त भिन्नता और आमूलचूल समसामयिकता दिखाई पडती है।

1 जैनेन्द्र कुमार 'व्यतीत', पृ० 27
2 जैनेन्द्र कुमार 'व्यतीत', पृ० 169 170

'जयवर्द्धन' मे भविष्य (सन् 2007 ई०) के भारत की सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था व स्थिति का काल्पनिक चित्र आकलित किया गया है, जो एक विदेशी पत्रकार निलवर हूस्टन की डायरी पर आधृत है। इस उपन्यास मे भी आत्मरति का प्राधान्य है। सम्पूर्ण प्रेम-कथानक जयवर्द्धन, इला और स्वामी चिदानन्द—तीन बिन्दुओ पर खडा होता है यानी इसकी स्थिति भी त्रिकोणात्मक है।

जैनेन्द्र के उपन्यासो के उक्त विवेचन के आधार पर जिन निष्कर्षों तक पहुँचा जा सकता है, वे इस प्रकार हैं :

- जैनेन्द्र ने हिन्दी-उपन्यास को किस्सागोई के धरातल से ऊपर और ऊँचा उठाकर तीव्र सवेदना के स्तर पर प्रतिष्ठित किया। इसलिए उनमे कथा-तत्व का ह्रास या अभाव तथा व्यक्ति का अन्तर्विश्लेषण प्रमुख हो उठा है।
- ये उपन्यास पुरातन और निष्क्रिय मूल्यो को खण्डित और अस्वीकार कर, नयी सवेदनाओ तथा भाव-चेतना का अर्पण करते हैं।
- जैनेन्द्र ने समष्टि—स्थूल से अलग हटकर, व्यष्टि-सूक्ष्म को स्वीकार किया है। दूसरे शब्दों में यों कहें कि व्यक्ति के माध्यम से वे समाज की तह तक पहुँचना चाहते हैं।
- इनके उपन्यासो मे आधुनिक व्यक्ति-मानव के यथार्थ चित्र आकलित हैं। इन चित्रो मे खुरदुरापन अवश्य है, जिसके लिए जैनेन्द्र ने मनोविश्लेषण-परक खुर्दबीन का सहारा लिया है।

निष्कर्षता : जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासो मे आधुनिकता की चुनौती और प्रक्रिया को वैयक्तिक स्तर पर स्वीकार कर हिन्दी-उपन्यास-साहित्य को मनोवैज्ञानिक परिवेश और नय चिन्तन का नया आयाम प्रस्तुत किया है।

जैनेन्द्र की इस व्यक्तिवादी और मनोवैज्ञानिक परम्परा को विकसित और परिपुष्ट किया इलाचन्द्र जोशी ने। इन्होंने एक ओर मनोविज्ञान को शास्त्रीय सिद्धपीठिका और गहराई दी तो दूसरी ओर उसे जीवन के व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का उपक्रम व प्रयास किया। इनका अभिमत है कि "व्यक्तिगत जीवन की समस्याएँ ही ससार के महान राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक चक्रो के बीज रूप—बल्कि मूलगत प्रतीक और आधारभूत सिद्धात हैं। जब तक आप इन 'व्यक्तिगत समस्याओं' के भीतर निहित रूपको मे विश्व के विराट् बाह्य जीवन-चक्र की समस्याओ को देखने की दृष्टि नही रखेंगे तब तक आप न तो

यथार्थ प्रगति के रूप से परिचित हो सकते हैं, न साहित्य-कला के मूल प्राणों का विकास आपके आगे भासित हो सकता है।"[1]

ऊपर के इस उद्धरण से यह बात बिल्कुल साफ हो जाती है कि इलाचन्द्र जोशी व्यक्ति के बाह्य जीवन की अपेक्षा भीतरी सत्य पर ही विशेष बल देना चाहते हैं। जैनेन्द्र और जोशी में अन्तर यह है कि एक ने कतिपय विशिष्ट पात्रों का अध्ययन मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में किया है, तो दूसरे ने पात्रों के सहारे मनोविज्ञान के कुछ सिद्धांतों और मन ग्रंथियों का परीक्षण और उद्घाटन किया है। इसलिए एक के लिए मनोविज्ञान साधन और अभिव्यक्ति का माध्यम है तो दूसरे (जोशी) के लिए वह साध्य और अभीष्ट बन गया है। यही कारण है कि जैनेन्द्र के उपन्यासों की कथावस्तु का विकास स्वाभाविक रूप में होता चलता है, जबकि इलाचंद्र जोशी की औपन्यासिक कथावस्तु में जगह जगह कृत्रिमता और आयासिकता का अहसास होता है। यह आयासिकता वास्तव में मनोविश्लेषण की सैद्धान्तिक पेचीदगी को वस्तु और शिल्प में ढालने के कारण अधिक है। फ्रायड की मनोवैज्ञानिक उपलब्धि के महत्व को इन्होंने इन शब्दों में स्वीकार किया है "उसने वैज्ञानिक आधार पर अवचेतन मन-सम्बन्धी सिद्धांत की स्थापना की और वैज्ञानिक पद्धति से ही उसका विश्लेषण और विवेचन किया। इस कोरे वैज्ञानिक युग में उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या अत्यन्त लोकप्रिय हो उठी। उसकी लोकप्रियता का एक कारण यह भी था कि उसने यौन प्रवृत्ति को मानवमन तथा मानव जीवन की मूल परिचालिका शक्ति माना है। उसका कहना है कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य यौन-प्रवृत्ति के खुले प्रदर्शन को सामाजिक दृष्टि से निन्दनीय, अतएव नैतिक दृष्टि से घृणित समझने लगा और वह उस विशेष प्रवृत्ति से सम्बन्धित मनोवेगों को भरसक अपने मन के भीतर दबाते रहने का प्रयत्न करता चला आता है। वे दमित मनोवेग एकदम लुप्त नहीं हो जाते, वे उसके सचेत मन के नीचे मन के अवचेतन भाग में एकत्रित होते रहते हैं। उनके दमित मनोवेगों में कभी-कभी भूकम्प आ जाता है या मथन होने लगता है। सचेत तथा अचेतन मन के बीच द्वन्द्व मचता है, जिसके फलस्वरूप विविध मानसिक उलझनें उत्पन्न हो जाती हैं। फ्रायड के अनुसार हमारे स्वभाव की जितनी भी विकृतियाँ हैं उनका मूल कारण दमित यौन-प्रवृत्ति है।[2] इलाचद्र जोशी की प्राय समस्त औपन्यासिक कृतियाँ व्यक्ति के इसी दमित यौन भाव की कथा-गाथा हैं। इसीलिए उनके उपन्यासों से पात्र

1 इलाचद्र जोशी 'विवेचना', पृ० 172
2. इलाचद्र जोशी 'विश्लेषण', पृ० 107

प्राय असामान्य अर्थात् अहवादी, कुण्ठित और किसी-न-किसी मनोग्रन्थि से पीडित प्रतीत होते हैं। उनके उपन्यास—'प्रेत और छाया' से लेकर 'जिप्सी' तक सबके सब किसी-न किसी विशिष्ट मनोग्रन्थि को लेकर लिखे गये जान पडते हैं। उदाहरण के वतौर 'प्रेत और छाया' के नायक पारसनाथ को देख सकते हैं, जो एक ओर 'इडिपस कॉम्पलेक्स' से पीडित व ग्रस्त होकर अपने पिता से घृणा करता है और दूसरी ओर हीनता की भावना (Inferiority complex) के कारण किसी भी स्त्री की पवित्रता पर विश्वास नही कर पाता। उसके अचेतन मन मे उसकी अपनी मा के सतीत्व-स्खलन की बातें चूकि जडीभूत हो गई हैं, इसलिए वह शकालु बन जाता है। भविष्य मे यही शका, उसके मन म विद्रोह का भाव जाग्रत करती है।

'सन्यासी' का नायक नन्दकिशोर कुठा और अहभाव से परेशान है, जिसकी परिणति सदेह, ईर्ष्या और आत्म-रति म होती है। नन्दकिशोर सर्वथा अहवादी है। वह अपने इस अतिशय अह भाव के कारण न तो स्वय सुखी और सन्तुष्ट हो पाता है और न उसे ही सुखी और प्रसन्न कर पाता है, जिससे प्यार करता है। वास्तव मे, उसका स्नेह और प्यार भी अहभाव पर ही आधृत स्थित है। शांति उसके चप्पे-चप्पे से प्यार करती है। प्रेम म वह इस हद तक आसक्त हो जाती है कि लोक लज्जा और घर-बाहर की परवाह किए बिना अपने प्रेमी—नन्दकिशोर के साथ निकल जाती है। किन्तु कुछ ही समय के बाद नन्दकिशोर का स्नेह-भाव सदेह मे बदल जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि शांति विवश होकर उसे छोड देती है। बाद मे वह जयती से शादी करता है किन्तु अपने अतिशय अह भाव और सदेह-वृत्ति के कारण उसे भी खो देता है। अन्त मे वह सबसे सन्यास लेकर रिक्त जीवन व्यतीत करने की ओर प्रवृत्त और विवश हो जाता है। इस प्रकार 'सन्यासी' की मूल समस्या व्यक्ति की अह भावना ही जान पडती है, जिसका मूर्तविधान है—नन्दकिशोर। इस तथ्य को उद्घाटित करते हुए स्वय उपन्यासकार इलाचन्द्र जोशी ने एक स्थल[1] पर लिखा है 'मेरे सभी उपन्यासों का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अह भाव की ऐकान्तिकता पर निर्मम प्रहार करने का रहा है। आधुनिक समाज म पुरुष की बौद्धिकता ज्यो ज्यो बढ़ती चली जा रही है, त्यो-त्यो उसका अह भाव तीव्र से तीव्रतर और व्यापक से व्यापकतर रूप ग्रहण करता चला जाता है। अपने इस कभी न तृप्त होने वाले अह भाव की अस्वाभाविक पूर्ति की चेष्टा मे जब उसे पग-पग पर स्वाभाविक सफलता मिलती है, तो वह बौखला उठता है और उस बौखलाहट की प्रतिक्रिया

1 'विवेचना' पृ० 123

के फलस्वरूप वह आत्म विनाश की योजना में जुट जाता है। दूसरी इस विनाशात्मक क्रिया का सबसे पहला और सबसे घातक शिकार बनना पड़ता है नारी को। युगों से प्रपीड़ित और शोषित वर्ग है यह नारी। उसे और अधिक प्रपीड़ित और अधिक शोषित करने की चेष्टा में आज का अहंवादी पुरुष बुद्धिवादी भी है, इसलिए अपनी मनोवृत्ति की यथार्थता से बहुत कुछ परिचित भी रहता है और इसी कारण उसके भीतर विरोधात्मक संघर्ष चलते रहते हैं।"

ऊपर के इस विवेचन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यासकार जोशी को अभीष्ट है—यथार्थ के धरातल पर व्यक्ति के सूक्ष्म अहं भाव का निरूपण व विश्लेषण प्रस्तुत करना और उससे आबद्ध अन्य प्रवृत्तियों, जैसे, कुण्ठा, हीन-भावना और विघटन आदि का प्रदर्शन कराना। 'सन्यासी' का नायक नन्द-किशोर इसका ज्वलन्त प्रमाण है। इसके संबंध में विचार करते हुए गंगाप्रसाद पाण्डेय ने लिखा है, 'संन्यासी' में यथार्थ की जीवन-भूमि पर मानवीय मनोभावों का सूक्ष्म मनोविश्लेषण एवं जीवन के मूल तत्वों का विश्लेषण, और विवेचन अपनी एक खास खूबी रखता है। जीवन के बाह्य तथा अन्तर के भावों-प्रतिभावों का भीषण संघर्ष और उसका समुचित सामंजस्य 'संन्यासी' में मिलता है। आज का अहं-पीड़ित मानव अपने अन्तस्तल में छिपी हुई जिन विनाशकारी प्रवृत्तियों के कारण जीवन की आपूर्ति दुरवस्था में पहुँचा है, उन्हीं के संयोजन और संतुलन का स्वर जोशी ने साहित्य में ऊँचा किया है।"[1] अन्त में निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत उपन्यास ('सन्यासी') का वातावरण निराशा, अन्धकार, अवसाद तथा विषाद का है। शान्ति की जीवन-यात्रा, नन्दकिशोर का सन्यासी हो जाना, जयन्ती की आत्महत्या कुण्ठित और विकृत जीवन के उदाहरण हैं।[2]

इलाचन्द्र जोशी का 'जिप्सी' सम्मोहन (Hypnotism) और भय पर आधारित मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास है। इसमें एक जिप्सी लड़की—मनिया के मानसिक द्वन्द्वों, उद्वेगों एवं अन्तर्भावों को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। इसमें मानव-ग्रन्थियों की जटिलताओं की इतनी अधिक विशदता है कि लगता है उपन्यासकार ने जैसे इनका पूर्व नियोजन कर रखा हो। इसलिए डॉ० देवराज उपाध्याय को यहाँ तक कहना पड़ा कि 'इस उपन्यास ('जिप्सी') में से अनेक प्रसंग उद्धृत किए जा सकते हैं, ऐसे विचार दिखलाए जा सकते हैं, जो

1 'हिन्दी-कथा-साहित्य' पृ० 107-108
2. डॉ० सुषमा धवन हिन्दी उपन्यास पृष्ठ 210

इस उपन्यास से अधिक मनोविज्ञान की पुस्तक के लिए उपयोगी हो सकते थे।"[1]

इलाचन्द्र जोशी के परवर्ती तीन उपन्यास सामने आए—'सुबह के भूले', 'जहाज का पछी' और 'ऋतुचक्र'। इन उपन्यासो मे 'जहाज का पछी' काफी विख्यात और चर्चित हुआ। विषय और शिल्प—दोनों ही दृष्टियो से जोशी के इस उपन्यास मे मौलिकता और नयापन है। उत्तम पुरुष यानी 'मैं' शैली म लिखे गए इस उपन्यास के माध्यम से उपन्यासकार ने महानगर कलकत्ता को कथात्मक केन्द्र के रूप मे प्रस्तुत कर, आज के सामाजिक जीवन की विकृतियों और उसके घिनौनेपन का अच्छा-खासा चित्र आकलित किया है। इसका नायक 'मैं' समाज के अनेक वर्गों मे भटकता, दर-दर की ठोकरें खाता और अन्त मे ऊबकर, निराश होकर उसे पुन अपनी पहली जगह और अवस्था मे आने को विवश होना पडता है। इस प्रकार, प्रस्तुत उपन्यास के माध्यम से उपन्यासकार ने आज के कुण्ठित, सत्रस्त, बिखरे और असहाय मनुष्य की रूपरेखा का प्रस्तुतीकरण किया है।

इलाचन्द्र जोशी ने आधुनिकता की चुनौती को सवेदना के बजाय वैचारिक धरातल पर स्वीकार किया है। यही कारण है कि सैद्धान्तिक और वैचारिक तत्त्व इनकी सृजन-प्रक्रिया पर हावी होता हुआ दिखाई पडता है। यह इनकी औपन्यासिक कला की सीमा है। जोशी ने आज के मनुष्य की समस्याओ का कारण बाहरी नहीं, अपितु भीतरी ठहराया है। महानगर की बाहरी सभ्यता और भीड की कशमकशी म व्यक्ति का चेहरा खो गया है। उस भीड मे चेहरे की पहचान नही हो रही। यहाँ हर व्यक्ति आत्म-स्वार्थ से प्रेरित और सचालित

[illegible] स्वार्थ में योग देता है।[2]

इलाचन्द्र जोशी वास्तव में, मध्यवर्गीय चेतना का सजग कलाकार हैं। यह एक ऐसा वर्ग है, जो अपनी सीमा को नजरअन्दाज कर, उच्चवर्गीय जीवन-स्तर को भोगने का 'पोज' करता है। फलस्वरूप, उसका जीवन द्वन्द्व और दुविधाओ मे दोलायित ही नहीं होता, वरन् कभी-कभी बुरी तरह टूट भी जाता

1 आधुनिक कथा-साहित्य और मनोविज्ञान, पृष्ठ 256

2. 'जहाज का पछी, पृ॰ 58

है। इस 'पोज' और प्रदर्शन के पीछे मूल रूप से अहं का भाव काम करता है। उपन्यासकार जोशी ने मध्यवर्ग की इस अहग्रस्त व रुग्ण चेतना का चित्रांकन इन शब्दो मे किया है 'आज का मानव न स्वय अपने को समझ पा रहा है, न दूसरे को समझना चाहता है। प्रत्येक सम्पन्न व्यक्ति बाहर से भरा पूरा रहने पर भी अपने निपट संकीर्ण अहम् मे डूबा रहने के कारण अपने भीतर किसी एक अनन्त हाहाकार भरे स्पष्ट अभाव का अनुभव कर रहा है और प्रत्येक अकिंचन व्यक्ति सारे जीवन को ही अभावमय, अर्थहीन और अनावश्यक मानकर जहाँ तक सामर्थ्य है उसके भार को किसी तरह ढोता चला जा रहा है। बीच वाले व्यक्ति प्रतिक्षण जीवन और मृत्यु के झूले म झूलते हुए परस्पर-विरोधी परिस्थितियो के क्रूर परिहास के शिकार बन रहे हैं। सर्वत्र भय, सशय,अनास्था और अविश्वास का बोलबाला है और सब कही झूठ और दाग का राज्य छाया हुआ है। सब ओर जीवन अरक्षित अव्यवस्थित है। सब के मन के अणु बिखर कर छितरा गये हैं और विस्फोटक तत्त्वो से भरे हुए हैं।' [1]

उपर्युक्त उद्धरण से यह बात पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जाती है कि इलाचन्द्र जोशी ने आधुनिकता की चुनौती को व्यक्ति के धरातल पर स्वीकार किया है। आज का मानव कुण्ठा, सत्रास, अनास्था, विघटन, घुटन और टूटन का बुरी तरह शिकार हो गया है। पर इसका कारण बाहरी न होकर व्यक्ति के स्वयं अपने भीतर ही विद्यमान है। यही कारण है कि जोशी ने व्यक्ति की समस्या की तलाश बाहर करने के बजाय उसके स्वय के भीतर ही करना बहतर समझा है। मेरे इस कथन की पुष्टि के लिए इनका यह उद्धरण पर्याप्त है, जहाँ इन्होंने अपने औपन्यासिक दृष्टिकोण को प्रतिपादित करते हुए लिखा है 'मेरे सभी उपन्यासो का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अहभाव की ऐकान्तिकता पर निर्मम प्रहार करने का रहा है—'घृणामयी', 'सन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया' इन चारो उपन्यासो मे मैंने इसी दृष्टिकोण को अपनाया है। आधुनिक समाज मे पुरुष की बौद्धिकता ज्यो-ज्यो बढ़ती चली जा रही, त्यो-त्यो उसका अहभाव तीव्र से तीव्रतर और व्यापक से व्यापकतर रूप ग्रहण करता चला जाता है। अपने इस कभी न तृप्त होने वाले अहभाव की अस्वाभाविक पूर्ति की चेष्टा मे जब उसे पग-पग पर स्वाभाविक असफलता मिलती है तो वह बौखला उठता है और उस बौखलाहट की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह आत्म विनाश के पहले अपने आस-पास के ससार के विनाश की योजना मे जुट जाता है। × × × आज का अहवादी पुरुष बुद्धिजीवी भी है, इसलिए अपनी मनोवृत्ति की यथार्थता

1 'जहाज का पछी', पृ० 59

से बहुत कुछ परिचित भी रहता है और इसी कारण उसके भीतर विस्फोटक संघर्ष मचते रहते हैं। सामाजिक पर्दे के भीतर छिपे हुए इसी सत्य का उद्‌घाटन मनोवैज्ञानिक उपायों से करने का प्रयास मैंने किया है।"[1]

इस प्रकार उनके दृष्टिकोण से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि 'मनोवैज्ञानिक उपायों' (उनका ही यह प्रयुक्त शब्द है) से व्यष्टि सत्य का उद्‌घाटन और पुनःमूल्यांकन करना ही उनके उपन्यासों का अभीष्ट है। 'उपाय' में जो सायास योजना निहित होती है, इनके उपन्यासों में उसका साकार और प्रत्यक्ष रूप दिखाई पड़ता है। एक बात यहाँ और भी ध्यातव्य यह है कि जोशी के उपन्यासों में चूंकि मनोविश्लेषण का अथाह आग्रह वर्तमान है, इसलिए उनका रचनाकार कभी-कभी घटनाओं की अस्वाभाविक खींचातानी करने में भी किसी प्रकार का संकोच नहीं करता। प्रकारांतर से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इन्होंने आधुनिकता, विशेषकर मनोविज्ञान की चुनौती को विधेयात्मक तौर पर स्वीकार तो अवश्य किया है, किन्तु संवेदना के स्तर पर नहीं, अपितु वैचारिक और सैद्धान्तिक धरातल पर। यदि संवेदना के स्तर पर उन्होंने मनोविज्ञान का ग्रहण किया होता तो निश्चय ही उनकी रचनाओं की ऊर्जा का और भी अधिक संवर्द्धन हुआ होता। डॉ॰ इन्द्रनाथ मदान के शब्दों में यह कहना सर्वथा युक्तिसंगत जान पड़ता है कि 'जहां (कहीं) इनका (जोशी का) मनोविज्ञान इनके सृजन पर हावी है, वहां इसकी सीमा का आभास देता है और जहां यह रचना प्रक्रिया में व्याप्त है, वहां इसकी उपलब्धि का सूचक है।'[2]

इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों के अध्ययन और उनके दृष्टिकोणों के विवेचन विश्लेषण के उपरान्त, निष्कर्ष के बतौर निम्नांकित तथ्य हमारे हाथ लगते हैं :

- जैनेन्द्र की भांति इलाचन्द्र जोशी भी व्यक्तिवादी और मनोविश्लेषणवादी कथाकार हैं। अतः इनमें 'किस्सा गोई' का अभाव तथा व्यक्ति के अन्तर्मन के विश्लेषण का प्रयास अधिक है।
- जैनेन्द्र ने आधुनिकता विशेषकर मनोविज्ञान की चुनौती को प्रायः संवेदना के धरातल पर स्वीकार किया है, जबकि जोशी ने उसे ही वैचारिक व सैद्धान्तिक स्तर पर ग्रहण किया है। यही कारण है कि

1 साहित्य संदेश, अक्तूबर, पृ॰ 1944
2. 'आज का हिन्दी उपन्यास' पृ॰ 30

अज्ञेय के उपन्यास

वस्तु-विश्लेषण

जो रचनाकार अपनी रचना-प्रक्रिया मे आधुनिक सवेदनाओ को जिस हद तक स्वीकारता है, उसी अनुपात मे आधुनिक सदर्भो मे वह सफल भी माना जा सकता है। अज्ञेय के मतानुसार, 'आधुनिक उपन्यास नया उपन्यास है, लेकिन उसका नयापन न तो विषय-वस्तु का नयापन है, न विधान का, न रूपाकार का, वह मूलत जीवन के प्रति दृष्टिकोण का नयापन है। यद्यपि वस्तु शैली, विधान, कथा आदि का नयापन इसमें हो सकता है और होता भी है तथापि उसकी आधुनिकता की कसौटी वह नहीं है, कसौटी उसका नया दृष्टिकोण ही है।[1] इस प्रकार, इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक अथवा नये उपन्यास की कसौटी के बतौर अज्ञेय वस्तु, शैली, विधान तथा कथा आदि के साथ-साथ दृष्टिकोण के नयापन पर जोर देते हैं। दूसरे शब्दो मे यो कह कि 'वस्तु' की नवीनता के साथ ही वे विधान अथवा शिल्प के नयापन के भी हिमायती हैं। 'वस्तु' अथवा दृष्टि की नवीनता के कारण शिल्प की प्रायोगिक नव्यता स्वाभाविक है। अज्ञेय के उपन्यासो के अध्ययन-विवेचन के पूर्व इनका एक और उद्धरण देखना समीचीन होगा, जिसमे इनका नया औपन्यासिक दृष्टिकोण और भी अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है। ये लिखते हैं "नये वैज्ञानिक अनुसधान और ज्ञान ने उपन्यासकार की दृष्टि बदल दी। उसका लिखना ही बदल गया, क्योकि उसकी दृष्टि बदल गई। उसके बाद एक और बहुत बड़ा परिवर्तन फ्रायड के साथ आया। उसकी मनोविश्लेषण-पद्धति ने व्यक्ति-मानस और व्यक्ति-चेतना की गहनताओ पर नया और तीखा प्रकाश डाला। इससे उपन्यासकार को व्यक्तिमानस को समझने म बडी सहायता मिली, बल्कि एक नयी दृष्टि और पैठ मिली, जिसके सहारे वह विशेष व्यक्ति के मन के भीतर होने वाले सघर्ष को पहचान सका। 'चेतना प्रवाह' ('स्ट्रीम ऑफ कॉन्शसनेस') अथवा स्वगत-भाषण ('इन्टर्नल मोनोलॉग') के उपन्यास इस दृष्टि के परिणाम हैं और आधु-

1 अज्ञेय—'हिन्दी-साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य', पृ० 79-80

निक उपन्यास मे मानसिक सघर्ष का विश्लेषण विशिष्ट महत्व रखता है।"[1]

ऊपर के इन उद्धरणो से आधुनिक उपन्यासो के सम्बन्ध मे अज्ञेय का निम्नांकित दृष्टिकोण सामने आता है, जो प्रतिमान के रूप मे भी व्यक्त है :

1. आधुनिक उपन्यास नया उपन्यास है, जिसकी कसौटी (पुराना नही वरन्) नया दृष्टिकोण है।
2. नये दृष्टिकोण के अनुरूप शिल्प-विधान मे भी नयापन सभाव्य है।
3. परिवेश और ज्ञान के नयापन के कारण औपन्यासिक (अथवा कहे—सर्जनात्मक) सवेदना मे भी तीव्रतर बदलाव आया है। किन्तु, सर्वाधिक प्रभाव और परिवर्तन आया—सिगमण्ड फ्रायड की मनोविश्लेषणात्मक मनीषा के साथ, जिसके द्वारा उपन्यासकार को व्यक्ति-मानस को समझने-बूझने मे पर्याप्त सहायता मिली, बल्कि एक नयी दृष्टि और पैठ मिली, जिसके सहारे वह विशेष व्यक्ति के मन के भीतर होने वाले सघर्ष को पहचान सका।
4. नये दृष्टिकोण और नव ज्ञान-वैविध्य, विशेषकर, फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद के ही प्रतिफलन हैं—आज के 'चेतना-प्रवाह' (स्ट्रीम ऑफ कॉन्शसनेस) अथवा 'स्वगत भाषण' (इन्टर्नल मोनोलॉग) के उपन्यास। अर्थात् आज के उपन्यास मे नव-चिन्तन, दर्शन, प्रत्यय और विषय के अनुकूल शैलिपक नवता, जैसे, चेतना-प्रवाह तथा स्वगत-भाषण आदि अनिवार्य रूप से अपेक्षित हैं।

अब हम देखेंगे कि अज्ञेय के उपन्यास उनकी अपनी ही कसौटी पर किस हद तक खरे उतरते हैं। अज्ञेय के अब तक केवल तीन उपन्यास प्रकाशित हैं :

1 (क) शेखर एक जीवनी, भाग-1 (सन् 1940 ई०)।
  (ख) शेखर . एक जीवनी, भाग-2 (सन् 1944 ई०)।
2 नदी के द्वीप (सन् 1951 ई०) और
3 अपने-अपने अजनबी (सन् 1961 ई०)।

अज्ञेय के इन तीनों ही उपन्यासों मे मनोवैज्ञानिक प्रौढि का सहजत दर्शन होता है। इनमे मनोविश्लेषण की गहन क्षमता, सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध एव कला के प्रति ईमानदारी व समर्पण का भाव है। अत. इनके उपन्यास सर्वत्र सृजन-प्रक्रिया के परिणाम मालूम होते हैं। इनके पात्र गढे गए अथवा निर्मित न होकर यथार्थ के धरातल पर जीते-जागते अनगढ मनुष्य की तरह प्रतीत होते हैं। इस-लिए उनके अन्तर्सत्य, व्यक्ति की जीवनानुभूतियो से छनकर आते हुए लगते हैं

1 अज्ञेय—'हिन्दी-साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य', पृ० 79-80

अर्थात् उनके अनुभव जीवन के भोगे हुए सत्य की प्रतीति कराने वाले हैं;

[illegible]

स्वयं स्वीकार भी किया है। किन्तु ये इलाचन्द्र जोशी की भाँति मनोविज्ञान के सिद्धान्तों को—सिद्धान्तों के बतौर प्रस्तुत नहीं करते, प्रत्युत् उन सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में जीवनानुभूतियों, बोधों और व्यक्ति की मन.स्थितियों का प्रस्तुतीकरण करते हैं। अतः डॉ० नगेन्द्र[1] का यह अभिमत बिल्कुल सही है कि 'अज्ञेय जैसे एक-आध कलाकार द्वारा शायद कुछ व्यवस्थित ढंग से हिन्दी में आए ।'

'शेखर : एक जीवनी' : अज्ञेय का पहला उपन्यास है, जिसके प्रथम भाग का प्रकाशन सन् 1940 ई० तथा द्वितीय भाग का प्रकाशन सन् 1944 ई० में हुआ। जैसाकि शीर्षक से ही व्यञ्जित है : शेखर ही यह कथा-नायक है, जिसके चतुर्दिक घटनाओं का परिघटन होता है। किन्तु, ये घटनाएँ घटनाओं की विवृत्ति मात्र के लिए परिघटित नहीं होतीं, बल्कि उनके माध्यम से उपन्यासकार ने अपने कथा-नायक (पात्र) शेखर के अचेतन और अवचेतन मन (Sub conscious & unconscious mind) को विश्लेषित करने का प्रयास किया है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार पात्र (अथवा पात्रों) के जीवन के अनगिन चित्रों का अंकन नहीं करता, वरन् अत्यल्प घटनाओं के द्वारा ही वह अपना काम चला लेता है। इसके लिए वह कुछ घन्टों, मिनटों अथवा क्षणों को ही पर्याप्त समझता है। सबसे पहले जेम्स ज्वायस (James Joyce) ने इसका प्रायोगिक सधान किया। सन् 1914 ई० में उसकी लघु कहानी 'डबलिनर्स'

1. 'विचार और विश्लेषण', पृ० 63

('Dubliners') तथा सन् 1916 ई० मे आत्म-कथात्मक आख्यायिका 'ए पोर्ट्रेट ऑफ द आर्टिस्ट एज ए यग मैन' (A Portrait of the Artist as a Young Man) प्रकाशित हुई। पुन 1922 ई० म उसने 'युलीसिस' (Ulysses) नामक वृहद् उपन्यास लिखा, जिसमें ज्वायस ने अपने औपन्यासिक नायक के अन्तर्मन को चौबीस घटे की घटनाओ के आधार पर चित्रित करने का प्रयास किया है।[1] इसी प्रकार 'वर्जीनिया वुल्फ' (Virginia Woolf) के उपन्यास 'मिसेज डालोवाई'[2] (Mrs Dalloway) में मात्र तीन घटे की कथा है। हेरिस मेकाय ने 'दे शूट हौर्सेज, डोन्ट दे' में केवल तीन मिनट की कथा का आयोजन किया है।

1. A S Collins ने अपनी पुस्तक 'English Literature of the 20th Century' मे लिखा है
"This experiment appeared as Ulysses in Paris in 1922, and was hailed with amazement, some scornful, but much almost idolatrous Tracing a not very attractive though very human 'hero' through some twenty-four hours of a Dublin day, Joyce portrayed the outer world through the inner workings of his hero's consciousness a symbolic phantasmagoria now with strange effectiveness now merely with obscure padantry, and again with puckish humour" (Page 138)
2 'She proceeded to try her hand at experiment Jacobs Room was an uncertain start, Mrs Dolloway was nearly successful and in 1927 to the Lighthouse showed her in full control of a teachnique which displayed the inner stream of consciousness the spirit of life ebbing and flowing, symbolism too played its part in her treatment, a very sensitive artistry added a delight at times akin to poetic pleasure A new kind of novel had been born in England, story in the old sense had largely disappeared, but the traditional English gift of vivid characterisation was supremely retained by means of the need technique "
—A S Collins 'English Literature of the 20th Century' (Page 139)

हिन्दी-साहित्य मे अज्ञेय का 'शेखर एक जीवनी' इस दृष्टि से पहला और सफल प्रायोगिक उपन्यास कहा जा सकता है, जिसमे (उपन्यासकार के ही शब्दो मे) 'घनीभूत वेदना की केवल एक रात मे देखे हुए Vision को शब्द-बद्ध करने का प्रयत्न'[1] किया गया है। स्पष्ट है कि प्रस्तुत उपन्यास मे घटनाएँ प्रधान नही हैं, बल्कि महत्त्व है इसमें आगत प्रत्ययो अथवा व्यक्त दृष्टि-बिन्दुओ (विज़न) का। घटनाओ का आयोजन तो शेखर (और शशि) के मानसिक विश्लेषण मात्र के लिए किया गया है। वस्तुत. इस उपन्यास क प्रथम भाग म औपन्यासिक नायक शेखर के शैशव तथा कैशोर्य का अत्यन्त सूक्ष्म मनोविश्लेषण किया गया है तथा दूसरे भाग मे उसके यौवन के विद्रोही व्यक्तित्व का रेखाकन। स्वय अज्ञेय के विचार से शेखर का जीवनदर्शन 'स्वातंत्र्य की खोज'[2] है। उन्होने लिखा है 'शेखर की स्वातंत्र्य की खोज, टूटती हुई नैतिक रूढियो के बीच नीति के मूल-स्रोत की खोज है।"[3]

मनोवैज्ञानिक तथ्य के मुताबिक व्यक्ति अपने परवर्ती एव प्रौढ़ काल मे जो भी कुछ बन पाता है उसकी सस्कारगत नीव उसके शैशव काल मे ही पड जाती है। इस दृष्टि से प्रारम्भिक बाल्य-काल के अध्ययन का बडा ही विशेष महत्त्व होता है।[4] उपन्यासकार अज्ञेय ने अवान्तर रूप से शेखर का—तीन वर्षीय शेखर का बालमनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। शिशु के मन मे जो सहज सवेदनाएँ होती हैं, नयी बातो और वस्तुओ, जैसे, ईश्वर-सम्बन्धी, जन्म-सम्बन्धी तथा माता-पिता के यौन प्रणय-व्यापार-सम्बन्धी जो जिज्ञासा एक-

1 शेखर एक जीवनी', प्रथम भाग, भूमिका।

2 3 आत्मनेपद' पृ० 67

4 शिशु शायद जिस समय एक आकारहीन मासपिण्ड भर होता है, तभी से वह एक अमिट छाप ग्रहण करने लगता है, जो उसको उत्पन्न करने वाली तात्कालिक शक्तियो की ही नहीं होती, वरन् उससे पहले हुई असख्य घटनाओ और बाद मे होने वाले असख्य परिवर्तन की भी होती है यह छाप पड जाती है और पडी रहती है, व्यक्त नहीं होती, हमारी चेतना मे नहीं आती—तब तक जब तक कि किसी आकस्मिक प्रेरणा की चोट से किसी न समझ आने वाले आघात से वह स्पष्ट होकर लहर की तरह हमारे जीवन मे नही फैल जाती ।"

—अज्ञेय 'शेखर एक जीवनी' प्र० भाग, सस्करण 1966, पृ० 48-49

एडलर ने लिखा है

'The first great discovery was this the most important determinants of the structure of the soul life are gene-rated in the earliest days of childhood."

Introduction, "Understanding Human Nature" Page 5.

सामान्य शिशु मे होती है, शेखर मे उसी तीव्र जिज्ञासा-भाव का आवर्तन-प्रत्यावर्तन अहर्निश रूप से होता हुआ दिखाई पडता है। डॉ० देवराज उपाध्याय का कहना है कि "मालूम तो ऐसा ही होता है कि बाल मनोविज्ञान और चित्त विश्लेषणवादी बाल मनोविज्ञान को कथात्मक और सृजनात्मक रूप देने के प्रयत्न ही मे शेखर का निर्माण हुआ है। × × × शेखर के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की अवस्था का चुनाव मनोविश्लेषणवादियो के मतानुसार ही (3 वर्ष) है, विशेषत: Malamia Klein (मलामिया क्लेन) के, जिन्होने Fritz (फिट्ज) का अध्ययन किया था।"[1]

शेखर की अवस्था ज्यो-ज्यो विकसित होती जाती है, त्यो-त्यो उसकी अनुभूत्यात्मक जिजीविषा और भी व्यापक रूप धारण करती चलती है। वह प्रातिभ और प्रबुद्ध है। अत प्रतिपल उसके मन मे नये अनुभव के सत्य-असत्य को जानने समझने और साक्षात्कार करने की अदम्य तडप है। उसके मन मे कभी तो ईश्वर-सम्बन्धी, कभी अस्तित्व-सम्बन्धी और कभी प्रणय एव यौन-भाव से सम्बद्ध प्रश्न व्युत्पन्न होते रहते हैं। इन प्रश्नो और जिज्ञासाओ का समाधान सम्यक् रूप से उसके वास्तविक जीवन और जगत मे नही हो पाता। सामाजिक एव तथाकथित नैतिक रूढियो के कारण उसकी ये जिज्ञासाए कुछ समय के लिए दबा दी जाती हैं, जो बाद मे मानसिक ग्रन्थियो मे परिणत हो जाती हैं। शेखर उन्ही मानसिक ग्रन्थियो के कारण कुण्ठित बन जाता है। उपन्यासकार अज्ञेय ने अपने औपन्यासिक नायक शेखर—कहना चाहिए, शिशु शेखर की मानसिक स्थितियो तथा क्रियाओं का अत्यन्त सूक्ष्म पर्य्यवेक्षण प्रस्तुत किया है। इस सदर्भ मे डॉ० देवराज उपाध्याय का यह परिकथन सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है कि "अज्ञेय का शेखर हिन्दी का प्रथम उपन्यास है, जिसमे शिशु-मानस को (फ्रायड के शब्दो मे Pleasure Principle) आनद-प्रधान जीवन की झाँकियो को, उसके कौतूहल और जिज्ञासाओ को तथा उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियो पर समाज तथा माता-पिता के व्यवहार अथवा यो कहिये कि Reality Principle के सम्पर्क से उत्पन्न दमन को, मानसिक ग्रन्थियो को तथा उनके जीवनव्यापी प्रभाव को कथा क्षेत्र में लाने का प्रयत्न किया है।"[2] पुन. वे आगे लिखते हैं : "फ्रायड ने पारिवारिक रोमास का जो चित्र प्रस्तुत किया है, पिता का पुत्री के प्रति, भाई का बहिन के प्रति, माता का पुत्र के प्रति यौन प्रणय-व्यापार को देख लेने की उत्सुकता होना और उसे पा लेने मे सफल होना, इनकी मानसिक प्रति–

1 आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान, पृ० 166-67
2 आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य और मनोविज्ञान, पृ० 162

'क्रिया इत्यादि का सुन्दर और कलात्मक वर्णन शेखर से बढकर और कहाँ पाया जाता है ?"[1]

'शेखर : एक जीवनी' वस्तुत जीवनीमूलक उपन्यास है, जिसमे एक ओर जीवन की वास्तविकता का साक्षात्कार होता है तो दूसरी ओर औपन्यासिक शिल्प एव कल्पना के स्थापत्य का अनायास रूप से दर्शन होता है। अज्ञेय का कहना है कि 'तीव्रता' केवल कल्पना के सहारे नही मिल सकती, वह जीवन मे ही मिल जाय, तो कल्पना से उसे सयत ही किया जा सकता है, पूर्वापर जामा ही पहनाया जा सकता है।'[2] तात्पर्य यह कि इसमे जीवन की तीव्र अनुभूति और सवेदना के साथ-साथ कल्पना की सयत शक्ति का समायोजन किया गया है। वास्तविकता यह है कि प्रस्तुत कृति म महत्त्व कथा का नही है, बल्कि महत्त्व उस चरित्र का है, जिसकी कथा कही गई है।[3] स्पष्ट है कि इस सपूर्ण उपन्यास म चरित्र का ही प्राधान्य है। अत इसे चरित्र-प्रधान उपन्यास की सज्ञा प्रदान करना अधिक सगत जान पडता है। इसका नायक—शेखर समग्रात्मक रूप से एक 'सश्लिष्ट चरित्र' है। वह 'टाइप' न होकर खासा एक व्यक्ति है। वह रचना की 'प्रतिलिपि' न होकर स्वय अपने आपमे 'मूल रचना' की तरह "वास्तविक' है। प्रकारान्तर से यो कहें कि उसका व्यक्तित्व आदर्श के ढाँचे मे ढाला गया अथवा अनुकृत न होकर, खासा यथार्थपरक, अत जीवन्त है। उपन्यासकार अज्ञेय ने परिचय के लहजे मे जैसे लिखा है "शेखर कोई बडा आदमी नही है, वह अच्छा भी आदमी नही है। लेकिन वह मानवता के सचित अनुभव के प्रकाश मे ईमानदारी से अपने को पहचानने की कोशिश कर रहा है। वह अच्छा सगी नही भी हो सकता है, लेकिन उसक अन्त तक उसके साथ चलकर आपके उसके प्रति भाव कठोर नही होंगे, ऐसा मुझे विश्वास है। और, कौन जाने आज के युग में जब हम, आप सभी सश्लिष्ट चरित्र हैं, तब आप पाए कि आप के भीतर भी कहीं पर एक शेखर है जो बडा नहीं अच्छा भी नहीं, लेकिन जागरूक और स्वतन्त्र और ईमानदार है घोर ईमानदार !"[4]

शेखर सर्वथा एक व्यक्ति है। वस्तुत उसकी वैयक्तिक चेतना मे व्यक्ति मन की चेतन मनीषा अन्तर्भूत है। इस प्रकार, वह व्यक्ति पात्र होते हुए भी व्यक्ति-मात्र की अन्तश्चेतना के प्रतीक के रूप मे हमारे समक्ष प्रत्यक्ष होता है।

1 आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान पृ० 167
2 शेखर एक जीवनी दूसरा भाग, पाचवा सस्करण, पृ० 244
3 शखर एक जीवनी प्रथम भाग, भूमिका, पृ० 8
4 शखर एक जीवनी, प्रथम भाग, भूमिका पृ० 11

श्री लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का इस सम्बन्ध मे यह परिकथन बिल्कुल ठीक है कि "इस चरित्र-प्रधान उपन्यास में शेखर के अनुभवो के जो वृत्तान्त आए हैं, वे वैयक्तिक होते हुए भी नितान्त व्यक्तिगत नही हैं और उनकी सामाजिकता मे कोई सदेह नही प्रकट किया जा सकता।"[1] अज्ञेय ने स्वय एक स्थल पर[2] लिखा है "'शेखर एक जीवनी' मे वैचारिक आस्था के अलावा एक तरह की भावनात्मक आस्था भी है, इन्टेलेक्चुअल कन्विक्शन ही नहीं, एक इमोशनल कन्विक्शन भी है। उपन्यास मे भावना के स्तर पर भी 'शेखर' बधा हुआ है।"

शेखर अपनी स्वानुभूतियो और जिज्ञासाओ के प्रति बेहद ईमानदार है। उसमे जिज्ञासा का समाधान न होकर, प्रश्नों की तीव्र आकुलता और तीखी तड़प है। इस प्रकार, 'शेखर : एक जीवनी' एक ऐसे व्यक्ति (शेखर) का जीवनीमूलक उपन्यास अथवा उसकी उपन्यासपरक जीवनी है, जो अपनी अनुभूतियों के प्रति बेहद ईमानदार और सशक्त है। शेखर सच्चे अर्थों मे सत्यान्वेषी है। बाल-सुलभ जो भी जिज्ञासा उसकी चेतना मे आती है, अपने ज्ञान और अनुभव के द्वारा वह उसका रहस्योद्घाटन करना चाहता है, किन्तु उसके प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाते हैं। उनका समाधान या तो हो नही पाता और अगर होता भी है तो केवल बहलावे के लिए—ऊट-पटाग या बेतरतीब ढग से। फलस्वरूप, उसका मन दमित और कुंठित हो जाता है। कालान्तर मे ये दमित इच्छाए और कुठायें ही उसे विस्फोटक और विद्रोही बनाने के लिए उत्तरदायी होती है। शेखर का विद्रोही व्यक्तित्व भी सर्वथा मनोविज्ञानसम्मत है। समझौतावादी तो वह बिल्कुल नही है। इसलिए परिवार और समाज से कटकर, सदैव वह अकेला रहता है।

उपन्यास का क्रातिकारी व विद्रोही नायक—शेखर अपनी जीवन-यात्रा के अन्तिम पडाव म—फाँसी की प्रतीक्षारत मन स्थिति मे अपने अतीत का प्रत्यावलोकन करता है ताकि वह अपने तथा समाज के लिए जीवन की सिद्धि या अर्थ के नये सूत्रो को अन्वेषित कर सके—पा सके। उसके अतीत के प्रत्यावलोकन मे उसका आत्मनिरीक्षण भी शामिल है। शेखर अपना यह आत्म निरीक्षण अथवा आत्म-साक्षात्कार मानवता के सचित अनुभवो के प्रकाश मे ईमानदारी से करने का प्रयास करता है। ध्यातव्य यह है कि उसका यह (आत्म-) निरीक्षण विज्ञान-सम्मत कार्य कारण-परम्परा पर आधृत है। उपन्यासकार अज्ञेय के शब्दो मे—"क्रातिकारी अन्ततोगत्वा एक प्रकार के नियतिवादी होते हैं। लेकिन यह नियति-

1 हिन्दी-उपन्यास उपलब्धियाँ पृ० 45
2 आरोह, पृ० 64

वाद उन्हे अक्षम और निकम्मा बनाने वाला कोरा भाग्यवाद नही होता, वह उन्हे अधिक निर्मम होकर कार्य करने की प्रेरणा देता है। × × × यदि यो कहा जाय कि क्रांतिकारी का नियतिवाद अटल नियति की स्वीकृति न होकर, जीवन की विज्ञान-सगत कार्य-कारण-परम्परा पर गहरा (यद्यपि अस्पष्ट) विश्वास होता है तो शायद सच्चाई के निकट होगा। मेरा ख्याल है कि आज के अधिकाश वैज्ञानिक भी कुछ इसी प्रकार के नियतिवादी है।

तो 'शेखर एक जीवनी' के क्रांतिकारी नायक ने अपने जीवन मे इसी नियति के सूत्र को पहचानने का प्रयत्न किया है। क्योकि उसे पहचान लेना ही जीवन को समझ लेना है, उसकी पूर्ति पा लेना है।"[1]

इस उद्धरण से स्पष्ट रूप से यह ज्ञात होता है कि विज्ञान सगत कार्य-कारण- [illegible] [2]

विवेच्य उपन्यास के शीर्षक से ही यह व्यजित हो जाता है कि शेखर ही वह केन्द्रस्थ कथा-नायक है, जिसके चरित्र का विश्लेषण करना उपन्यासकार का अभीष्ट है। शेखर की आजन्म कथा अथवा यो कहे कि उसकी जन्म से लेकर जीवनान्त की आसन्न स्थिति की जीवनी इसमे प्रस्तुत की गई है। अत सिद्ध है कि यह चरित्र-प्रधान उपन्यास होने के साथ ही साथ विश्लेषणात्मक उपन्यास है। शेखर मूलत विद्रोही है। जीवन की चुनौतियो को स्वीकार कर निरन्तर वह अग्रसर होता चलता है। कही भी वह समझौतावादी नही है। वह अक्खड और अहवादी है। किन्तु उसका अहवाद निषेध्य अथवा त्याज्य न होकर सर्वथा विधेयात्मक है। ऐसा लगता है, जैसे सिद्धातो के इस्पात का वह बना हुआ हो, जो टूट तो सकता है, किन्तु उसके [illegible]

और भोगता है। सच पूछिए तो यातनाओ को झेलना और भोगना ही उसकी वास्तविक नियति है। सतुलित अह से ग्रस्त शेखर इस बात से पूर्णतः परिचित हो चुका है कि 'अभिमान से भी बडा होता है दर्द'। वास्तविकता यह है कि इस 'दर्द' और 'यातना' के सदर्भ और आलोक मे ही शेखर की सघन दृष्टि का निर्माण

1 शेखर एक जीवनी—भूमिका, पृ० 8
2 शेखर एक जीवनी—भाग 2, पृ० 183

होता है। अज्ञेय मूल रूप से अथवा कहे, अपने सम्पूर्ण अन्तस्वंभाव से कवि है। अत कवि की भावुक व आर्द्र सवेदनाओ से वे सपृक्त है। यही कारण है कि व्यक्तित्व की प्रामाणिकता तथा उसके मूल उत्स के रूप मे वे 'वेदना' तत्त्व का चयन व ग्रहण करते हैं। 'शेखर' के निर्माण के आधार के रूप मे भी, अत इन्होने 'वेदना' का ही प्रयोग किया है। 'शेखर : एक जीवनी' की भूमिका के बिल्कुल प्रारम्भ मे उन्होने लिखा है : "वेदना में एक शक्ति है जो दृष्टि देती है। जो यातना मे है, वह द्रष्टा हो सकता है...'शेखर' घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे हुए Vision को शब्द-बद्ध करने का प्रयत्न है।" इस प्रकार, प्रस्तुत उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञेय वेदना को सिद्धातत एक प्रकार की प्रबल शक्ति मानते है। यह एक ऐसी प्रबल शक्ति है, जो व्यक्तित्व के निर्माण मे सहायक सिद्ध होती है। एक अन्य स्थल पर[1] उन्होने वेदना अथवा दु.ख को दर्शन के रूप मे यू उपस्थापित किया है :

'दु ख सबको माँजता है
और
चाहे स्वय सबको मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु
जिनको माँजता है
उन्हे यह सीख देता है कि सबको मुक्त रक्खें।'

ठीक इसी प्रकार, 'नदी के द्वीप' की 'रेखा' हर बार वेदना के महत्त्व को स्वीकारती हुई कहती है[2] :

'तुमने एक ही बार वेदना मे मुझे जना था, माँ
पर मैं बार-बार अपने को जनता हूँ
और मरता हूँ
पुन जनता हूँ और पुन. मरता हूँ
और फिर जनता हूँ
क्योकि वेदना मे मैं अपनी माँ हूँ।'

शेखर अहवादी है। पर, उसका अह सन्तुलित और स्वाभाविक है। वास्तव मे अह से ग्रस्त दीखने वाला शेखर वेदनावादी है और ठीक उसी की भाति 'शशि' भी अपने को तपाकर पाया हुआ कचन[3] है। वेदना ही वस्तुत शेखर को जीवन-

1. हरी घास पर क्षण भर, पृ० 55
2. अज्ञेय 'नदी के द्वीप' पृ० 107
3 शेखर एक जीवनी, भाग दो, पृ० 215

दृष्टि प्रदान करती है। अर्थात् उसका सम्पूर्ण सश्लिष्ट व्यक्तित्व वेदना-जन्य है। उसके विचार से 'दुख की छाया एक तरह की तपस्या है—उससे आत्मा शुद्ध होती है।'[1]

शेखर ने अपने अनुभव के आधार पर यह सीखा और जाना है कि अहन्ता, भय और सेक्स—ये तीन महती प्रेरणाएँ हैं, जो प्रत्येक मानव के जीवन का अनुशासन करती हैं।[2] ये प्रेरणाएँ वस्तुत नैसर्गिक और जन्मजात हैं। अज्ञेय के अनुसार, 'मानव उन्हें अपनी मानवता के साथ ही पाता है, बाद की परिस्थिति या व्यवहार से नही। शेखर इन तीनो ही मूल प्रेरणाओ के परिप्रेक्ष्य मे अपने जीवन की तमाम घटनाओ का प्रत्यक्षीकरण करता-कराता है। वह अहवादी है। यह अह-भाव प्रारम्भ से ही उसके अन्तरग जीवन का स्वभाव और अग बन चुका है। बचपन मे—तीन वर्ष की अवस्था मे वह लेटरबॉक्स पर सवार है, मानो जैसे कोई सम्राट अपने विजयी घोडे पर बैठकर ससार को ललकार रहा है। वह ससार से एक लेटर बॉक्स की ऊँचाई भर ऊँचा है और ससार की क्षुद्रता पर हसता तथा मजाक उडाता है। डाकिये के मना करने पर, प्रतिशोध के रूप मे वह उस डाकिए के पाँव कुचलते हुए भाग खडा होता है तथा अपने आपम विजय का अनुभव करता है। वस्तुत यह अहता अथवा अह का प्रतीक है।

अह के बाद उसका साक्षात्कार भय से होता है, जब वह अजायबघर मे फिरते हुए नकली बाघ को देखकर भाग खडा होता है। फिर, वह डर उस समय दब गया, किन्तु उसने शिशु के मन मे घर कर लिया। उस दिन के बाद उसे भयकर स्वप्न आने लगे, रात को वह चीख-चीख उठता। और कभी जागकर यदि पाता कि कमरे म अधेरा है तब तो वह अन्धकार एक नही, असख्य बाघो से सजीव हो उठता, एक से-एक खूँखार । कालातर म उसने अपने अनुभव से जाना कि 'डर डरने से होता है। ससार की सब भयानक वस्तुए हैं, केवल एक घास फूस से भरा निर्जीव चाम, जिससे डरना मूर्खता है।'[3] इस आधार पर अब उसका ऐसा विश्वास बन गया है कि 'जब कभी कोई भयानक वस्तु देखो, तब डरो मत, उसका बाह्य चाम काट डालो, उसके भीतर भरी हुई घास-फूस निकालकर बिखरा दो। उसकी इस मान्यता और धारणा ने उसे (उद्धत, विध्वसक और हिंस्र तो नहीं, किन्तु) पूर्णत विद्रोही (अवश्य) बना दिया है।

तीसरी स्मृति उसमे निहित यौन-भाव ('सेक्स') से सम्बद्ध है। फ्रायड के

1 वही, पृ० 32
2 शेखर एक जीवनी, भाग एक, पृ० 49
3 शेखर एक जीवनी, प्रथम भाग, पृ० 51 52

यौन-सिद्धांत के अनुरूप ही शेखर के व्यक्तित्व का विकास होता है। उसके सम्पूर्ण जीवन में किसी-न-किसी प्रकार यौन-भाव व्याप्त है, जिससे सम्बद्ध एवं उद्भूत समस्याओं तथा मनोभावों का संश्लेषण-विश्लेषण अज्ञेय ने अपने इस उपन्यास में प्रस्तुत किया है। जहां कहीं शेखर किसी अनुचित अथवा वर्जित दृश्य को देखता है, तत्क्षण उसका मन सेक्स-भाव से आदोलित हो उठता है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य, विशेषकर बच्चे निषिद्ध अथवा वर्जनाओं के प्रति अधिकाधिक मात्रा में जिज्ञासु व प्रवृत्त होते हैं। जिस मात्रा में निषेध अथवा वर्जनाएं होती हैं, उसी अनुपात में बच्चे के मन में उस रहस्य की गहराई में प्रविष्ट होने की तीव्र उत्कण्ठा भी जाग्रत होती है। शेखर पर यह मनोवैज्ञानिक सिद्धात शत-प्रतिशत लागू होता है। मध्यवर्गीय परिवारों की ही भांति इसके (शेखर के) परिवार में भी यौन-सम्बन्धों की चर्चा निषिद्ध है। अतः उसका यौन-भाव कुंठित हो जाता है। फिर बाद में चलकर वह अपनी इस यौनगत कुण्ठा का साक्षात्कार करता है, जो उसकी जीवन-यात्रा का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आयाम है। पहले भी कई बार कहा जा चुका है कि शेखर घोर अहंवादी है। वस्तुतः उसका यौन-भाव भी उसके अहं भाव का अंग बनकर व्यक्त होता है। एक ओर वह अपने सम्पर्क में आने वाले समस्त पुरुषों से सम्मान की आकांक्षा करता है तो दूसरी ओर स्त्रियों से प्रणय और प्यार। इस सन्दर्भ में एक बात और भी ध्यातव्य यह है कि वह केवल आदान चाहता है; प्रदान नहीं। उसकी स्पष्ट मान्यता है : "मुझे मूर्ति उतनी नहीं चाहिए, मुझे मूर्ति-पूजक चाहिए। मुझे कोई ऐसा उतना नहीं चाहिए, जिसकी ओर मैं देखूं, मुझे वह चाहिए, जो मेरी ओर देखे। यह नहीं कि मुझे आदर्श पुरुष नहीं चाहिए—पर उन्हें मैं स्वयं बना सकता हूं। मुझे चाहिए आदर्श का उपासक, क्योंकि वह मैं नहीं बना सकता। अपने लिए ईश्वर-रचना मेरे बस में है लेकिन मेरी ईश्वरता का पुजारी—वह नहीं।"[1] जिस किसी से भी उसका स्नेह अथवा प्रणय-संबंध स्थापित होता है, उस पर सम्पूर्ण रूप से वह अपना आधिपत्य या कहें, एकाधिकार चाहता है। एकाधिकार की उसकी प्रवृत्ति भी सर्वथा मनोविज्ञान-सम्मत है।

शेखर के यौन-भाव ('सेक्स') का विकास तीन बिन्दुओं पर दिखाई पड़ता है : आत्मरति, समलिंगी रति तथा विपरीत लिंगी रति। उसमें आत्मरति मुख्यतः वहाँ दिखाई पड़ती है, जहाँ भीतर से उसका 'आत्म' पक्ष प्रबल होकर लोगों को अपनी ओर आकृष्ट कर, अपनी पूजा करवाना चाहता है। उसकी समलिंगी रति जागृत होती है—अपने से एक वर्ष बड़े सहपाठी मित्र कुमार के प्रति। कुमार से

1 शेखर : एक जीवनी, प्रथम भाग, संस्करण सन् 1966 ई०, पृ 144

वह कहता है 'कुमार बताओ, तुम मुझे अपने से बड़े क्यो नही लगते ? मुझे क्यो लगता है कि तुम छोटे हो, और मैं जैसे तुम्हारा सरक्षक, तुम्हारा गार्डियन (दैवी रक्षक) हूँ, और तुम मुझ पर निर्भर करते हो ?'[1] बाद मे शेखर उस पर एकाधिपत्य स्थापित करना चाहता है, जिसकी परिणति होती है—शारीरिक हाव-भाव, अग-चेष्टा या चुम्बन आदि मे। वह कहता है—'कुमार, यदि तुम मेरे अतिरिक्त और किसी के हुए, तो मैं तुम्हारा गला घोट दूँगा।' (इतना ही नही) शेखर ने कुमार को अपनी ओर खीचकर उसका मुँह चूम लिया। लेकिन साथ ही उसके मन मे एक शका हुई—स्वर मे यह भय क्यो ? और उसे यह भी लगा कि जो कुछ उसकी ओर से है, दूसरी ओर से वह नही है, जैसे झील मे उसका प्रतिबिम्ब मात्र, जिसमे कम्पन है, लेकिन कम्पन जीवन का नही माया का।"[2]

शेखर के हृदय मे विपरीत लिंगी रति के भावो का अनेकश उद्रेक उन समस्त नारियो के सन्दर्भ मे होता है, जो कोई उसके सपर्क मे आती है वह चाहे सरस्वती हो, चाहे शीला, शारदा या शान्ति हो या चाहे शशि हो। यह सब उसके भावो का अतिरेक या व्यभिचार न होकर उसकी 'सहज बुद्धि' और 'सहज विकास' का नैसर्गिक व स्वाभाविक परिणाम है। यही कारण है कि उसकी सगी बडी बहन सरस्वती उसे सरस, माँ, मधुर और मौसेरी बहन शशि सुन्दर, उन्मद तथा उसके व्यक्तित्व की पूरक प्रतीत होती है।

उपन्यासकार अज्ञेय ने शेखर मे क्रान्ति अथवा विद्रोह के उपकरण के रूप मे 'विराट् व्यापक प्रेम की सामर्थ्य' तथा 'एक तटस्थ सात्त्विक घृणा की क्षमता'[3] को विशेष उपादेय और सक्रिय माना है। लेखक का यह विचार सर्वथा मनोविज्ञानसम्मत है कि प्रेम और घृणा 'कभी अलग नहीं किए जा सकते, जहाँ प्रेम [illegible] नो विशिष्ट [illegible] पर होता [illegible] 'शेखर के जीवन को घृणा और वासना—इन्ही दो शक्तियो ने सम्भव बनाया—घृणा ने ही उसे इतनी शक्ति दी कि वह सब कुछ खोकर भी ससार को ललकारे और

1 शेखर एक जीवनी प्रथम भाग, सस्करण सन् 1966, पृ॰ 201 202
2 वही, पृ॰ 203
3 शेखर एक जीवनी, प्र॰ भा॰, पृ॰ 29
4 वही, पृ॰ 31

वासना ने उसे जगाया कि वह चोट का सामना करे, जो उसके हृदय को लगी है।'[1]

शेखर के व्यक्तित्व का विकास—प्रेम, घृणा और वासना—तीन विन्दुओ पर होता हुआ दिखाई पडता है। इस प्रकार, उसका व्यक्तित्व त्रिकोणात्मक है। प्रेम, घृणा और वासना की यह भावना क्रमश॰ उसके पिता, उसकी माँ तथा सरस्वती, शारदा, शान्ति और (सबसे बढकर) शशि आदि के सदर्भ मे अधिक स्पष्टता से व्यक्त होती है। शेखर के मन मे अपनी माँ के प्रति घृणा का भाव अत्यन्त सघन और तीव्र है। इसका मूल कारण यह है कि उसे अपनी माँ की ओर से अपेक्षित स्नेह न मिलकर, बार-बार डाट फटकार और अविश्वास का प्रस्ताव ही मिलता है। जो स्नेह उसे मिलता है, वह अनुपातत सामान्य कोटि का है, किंतु उसकी आकाक्षा सदैव विशिष्ट स्नेह प्राप्ति की रही है। स्नेह-वैशिष्ट्य के अभाव मे उसका मन माँ के प्रति विमुख और विद्रोही हो जाता है। फलत चेतन रूप से वह अपनी माँ को आदर-भाव नही प्रदान कर पाता। उसके विचार म, 'पिता आवेश म आततायी और माँ आवेश की कमी के कारण निर्दय है। पिता की क्रोध-वर्षा के बावजूद वह सखा-भाव का अनुबोधन करता है। किन्तु मा जब कुछ नही कहती थी तब उसे लगता था कि वह मीठी आँच पर पकाया जा रहा है।[2] पिटने को तो अनेक बार वह (अपनी माँ के साथ ही साथ) अपने पिता से भी पिटता है। इसके बावजूद वह उन्हे 'पूजता', जबकि बार-बार वह अपनी माँ के प्रति विद्रोहभाव व्यक्त करता है। इन कारणो का स्पष्टीकरण लेखक ने इन शब्दो मे किया है. "माँ की ओर आकर्षित पुत्र और पिता की ओर आकर्षित कन्या साधारणता की ओर, सामान्यता की ओर जाते हैं, और पिता की ओर आकृष्ट पुत्र, माता की ओर आकृष्ट कन्या, असाधारण होते हैं। पहली श्रेणी मे मिलेंगे सीधे-सादे शात आदमी, सामान्य स्त्रियाँ, जिनमे कोई खास बुराई नही है, जो साधारणतया प्रसन्न और सतुष्ट हैं, जो जीते हैं, रहते हैं और मर जाते हैं; दूसरी मे मिलेंगे प्रतिभावान् लेखक और कवि, देश और ससार को बदल देने वाले सुधारक, क्रान्तिकारी, डाकू, जुआरी, पतित-से पतित मानवता के प्रेत... अच्छे या बुरे, उनके लिए साधारणता नही है, वे सुलग नही सकते, फट ही सकते हैं...। शेखर साधारण नही था। और वह अपने पिता का उपासक था।[3] वस्तुत. यही वह मूल भाव है, जिसके धरातल पर उसके व्यक्तित्व का विकास होता है।

1 शेखर एक जीवनी, प्र० भा०, पृ० 121
2 वही, पृ० 181
3 वही, पृ० 123 124

शेखर सामान्य व्यक्ति से ऊपर और विशिष्ट दिखाई पड़ता है तथा निरन्तर विशिष्टता की ओर ही प्रयाण करता चलता है।

शेखर के मन में जो भाव उसकी प्रारम्भिक अवस्था में जिस रूप में बन चुके हैं, वे ही आगे चलकर उसके अन्दर संस्कार के रूप में सक्रिय होते हैं। शुरू में वह अपनी माँ से घृणा करता है और बाद में असहयोग आन्दोलन से प्रभावित होकर विदेशीमात्र से घृणा करने लग जाता है। कालान्तर में, उसकी घृणा का विस्तार विदेशी कपड़ों तथा विदेशी भाषा तक हो जाता है। व्यक्तिवादी शेखर में सामाजिक दाय-बोध का अभाव न होकर, पर्याप्त मात्रा में सहृदयता, मानवीय महानुभूति तथा संवेदनशीलता के तत्त्व संश्लिष्ट रूप में दिखाई पड़ते हैं। बचपन में मनोरंजन के लिए पिंजरे में बन्द पक्षियों को उड़ाकर उनको उन्मुक्त करने में उसे संतोष होता है। निम्न जातीय विधवा के यहाँ शेखर को जाने तथा उसकी बेटी फूलाँ के साथ खेलने खाने की मनाही की जाती है। किन्तु, उस मनाही के बावजूद उसका मन प्राण सहानुभूति के भावों से आप्लावित हो जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि शेखर दूर बैठे उस विधवा की पूजा तक करने लग गया तथा फूलाँ भी उसके लिए एक पद दलित देवी-सी हो गई।'[1] कॉलेज-जीवन में वह मालाबार प्रदेश की यात्रा मात्र इसलिए करता है ताकि ब्राह्मणों द्वारा शोषित अछूतों के शोषण का अनुभव प्राप्त कर सके। वहाँ एक मरणासन्न नारी को पीठ पर लादकर वह अस्पताल पहुँचाता है तथा एक असहाय महिला को गाड़ी पर चढ़ाने में सहायता करता है, जिसके लिए उसे एक दूसरे व्यक्ति से झगड़ना भी पड़ता है। आगे चलकर असहाय-निर्धन-निरक्षर बालकों को पढ़ाने के लिए वह रात्रि पाठशाला की स्थापना करता तथा उसमें स्वयं पढ़ाता है। घोर अहंवादी और विद्रोही प्रतीत होने वाला शेखर 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक का अभिनय, भीगी पलकों से देखता हुआ अपनी संवेदनशील मनोवृत्ति का परिचय देता है। शेखर में प्रेम और वासना का उद्रेक अत्यन्त तीव्र रूप में होता है। पिता के प्रति उसके मन में प्रेम और आदर का भाव सुरक्षित है, जिसकी परिणति होती है—पितृ पूजा में।

प्रेम और वासना जीवन के दो ऐसे निर्णायक तत्त्व हैं, जो व्यक्ति के आत्म-विकास में सहायक सिद्ध होते हैं। वस्तुतः जीवन-यात्रा के वे ही पाथेय हैं, जिनका जीवन-पर्यन्त प्रयोग शेखर करता है। प्रारम्भ में उसका प्रेम घोर वैयक्तिक है किन्तु बाद में (वह प्रेम) नैतिक समस्या का रूप ले लेता है। वह

1 शेखर : एक जीवनी, प्र० भा०, पृ 63

कहता है : 'सभी प्यार--प्यार मात्र—मूलतः एक समस्या है और दो इकाइयों तक सीमित नही है·· कितने सूत्र —पक्के और दुर्बल, मोटे और सूक्ष्म, सीधे और आडे, उस समस्या से उलझे हुए है और उसे विकट बनाते हैं · मूल समस्या सामजस्य की है, प्यार एक आकर्षण है, एक शक्ति, जिससे जीवन की स्थितिशीलता विचलित हो जाती है। वह विचलन की समस्या है क्योकि यह व्यापक है और मौलिक जीवन के 'तरवार की धार पर'—असख्य धारो पर।—सधे हुए समतोल को डगमगा जाती है···तब तक समस्या है जब तक कि उतना ही व्यापक सामजस्य फिर न खोज निकाला जाय समस्या है और साधना है, तपस्या है ।' स्पष्ट है कि प्रेम दो इकाइयो तक सीमित न होकर, एक व्यापक सामजस्य है, जिसकी सार्थकता दिखाई पडती है—शेखर के व्यक्तित्व के सदर्भ मे। इस दृष्टि से उसका आत्म-विशेषण द्रष्टव्य है ." "मेरे व्यक्तिगत जीवन मे मानव के समष्टिगत जीवन का भी इतना अश है कि समष्टि उसे समझ सके और उसमे अपने जीवन की झलक पा सके। मेरे जीवन मे भी व्यक्ति और टाइप का वह अविश्लेष्य घोल है, जिसके बिना कला नही, और जिसके बिना फलत उपन्यास नही।" विचारक-उपन्यासकार अज्ञेय नये मूल्यो के सदर्भ मे 'सेक्स' की नयी परिभाषा गढते हैं। इसे ('सेक्स' को) न तो वे निरा शरीर-सम्बन्धी मानते हैं और न केवल सामाजिक बन्धन या व्रत, बल्कि एक 'गतिशील सम्पृक्त भाव' ('डाइनैमिक कम्यूनिकेशन') के रूप मे ग्रहण करते हैं।[1] आगे अपने इस मतव्य को और अधिक स्पष्ट करने के लिए वे डी॰ एच॰ लॉरेन्स की इस पक्ति को उद्धृत करते हैं—मैन मस्ट बी सुप्रीम, अदरवाइज़ रिलेशनशिप इज़ फिलियर, दैट इज़, इट इज़ इनसेस्ट'।

प्रेम और वासना मे आत्यन्तिक नैकट्य होता है। फ्रायड के ("प्लेजर थियोरी, के) अनुसार बिना वासना ('सेक्स') के प्रेम का अस्तित्व सभव नही। प्रत्येक प्रेम मे, वासना का किसी-न-किसी रूप और मात्रा मे होना निश्चितप्राय है। फ्रायड के इस सिद्धान्त को कतई नकारा नही जा सकता। वस्तुतः जिसे हम सात्विक प्रेम की सज्ञा देते हैं, वास्तव मे वह भी 'वासना' से सर्वथा कटा हुआ नही होता, अपितु इसी का उदात्त रूप ('सब्लाइम्ड फॉर्म) होता है। बहरहाल, 'शेखर' के सदर्भ मे यह सिद्धात शत-प्रतिशत सही प्रतीत होता है। विद्रोही दीखने वाला शेखर दरअसल, वासना अथवा यौन-भाव ('सेक्स') की ओर अत्यधिक मात्रा मे प्रवृत्त है। [illegible]
प्रणाली है, जो उसके अतृप्त यौ[illegible]
जहाँ कही उसकी काम-भावना [illegible]

1 अज्ञेय 'हिन्दी-साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य', पृ॰ 79

विद्रोह कर उठता है, किन्तु ध्यातव्य यह है कि और चाहे जिस किसी के विरुद्ध वह विद्रोह कर ले, किन्तु अपने सम्पर्क मे आने वाली तमाम नारियो—चाहे वह सरस्वती हो या शशि, शारदा हो अथवा शान्ति—सबके प्रति वह घोर मैत्री-पूर्ण आचरण करता है। उसकी सगी बहिन सरस्वती उसके लिए पहले 'सरस्वती' से 'बहन' और फिर 'बहन' से 'सरस' बन जाती है। शेखर के मन मे 'सरस्वती' के प्रति जो ऐक्य भाव है, वह अत्यन्त उन्मद और तीव्र है। उसे '(शेखर को) लगता था कि जिस प्रकार जो वाछित है, प्रिय है और समझने और सहानुभूति करने वाला है, उसका पूंजी-भूत रूप सरस्वती है।'[1] शेखर के मनमे सरस्वती के प्रति अनुभूति की तीखी ऐन्द्रिकता का प्रवेग है प्रत्यक्ष नही तो परोक्ष ही सही। एक दिन 'शेखर ने अपने दोनो हाथो से बडे जोर से उसका (सरस्वती का) हाथ पकड कर अपनी आँखो पर दबा लिया।'[2] जिससे उसे सुख की अनुभूति हुई, जो वास्तव मे उसकी यौन-भावना की ही परोक्ष सतृप्ति होती है। शेखर, जहाँ शारदा की आँखें मूँद कर उसके रूखे केशो को सूंघता है, वहाँ भी प्रकारान्तर से, उसकी दमित यौन-भावना ही तुष्ट होती है, न कि अह-भावना। शान्ति के कण्ठ के स्पर्श-मात्र से वह सतुष्ट हो जाता है। उसके जीवन को सर्वाधिक प्रभावित करने वाली है शशि। वस्तुत वही वह विशिष्ट केन्द्र बिन्दु है, जिसके [illegible] सचालित होता हुआ दिखाई [illegible] कार करता है 'मेरा होना है।' शशि रमेश की परि- [illegible] शेखर की मौसेरी बहन है, फिर भी अपने हृदय का सारा सचित प्यार शेखर के लिए उडेल देती है। इसके लिए उसे क्या सब नही सहना और करना पडा? घर-बार छोडा, पति का त्याग किया और यहाँ तक कि शेखर के निर्माण के खातिर स्वय का उसने विसर्जन किया। 'शशि, तुम क्या हो?'—शेखर के इस प्रश्न के उत्तर मे वह कहती है—'मैं विवाहिता हूँ। अपना आप मैंने स्वेच्छा से दिया है अपने को, इह का सकल्प कर दिया है—आहुति दे दी है। जो दे दिया है मेरा नहीं है, उसकी ओर से मैं कुछ नही कह सकती, न कुछ स्वीकार ही कर सकती हूँ, न प्रतिवाद कर सकती हूँ, और—न कुछ दे सकती हूँ। अपने को मिटा देने मे मैंने कजूसी नही की—खुले हाथ से दिया—होम कर दिया, और देख लिया कि सब जल गया है—धूल हो गया है। पर, तुममें मेरा वह जीवन है, जो मैं हूँ, जो मेरा मैं है।'

1 शेखर एक जीवनी, प्र० भा०, पृ० 143
2 वही, पृ० 147

शेखर, तुम मुझे बहिन, माँ, भाई, बेटा कुछ मत समझो, क्योंकि मैं—अब—कुछ नही हूँ। एक छाया हूँ—और 'अमूर्त' होकर मैं—तुम्हारा अपना—आप हू जिसे तुम नाम नही दोगे।" शशि और शेखर का प्रेम-विश्लेषण करते हुए एक आलोचक ने इसे 'इन्सैस्ट बैरियर' के नाम से अभिहित किया है।[2] इन्सैस्ट बैरियर के कारण वासना का शमन ऊपर से दिखाई देता है किन्तु वह अचेतन म पहुँच जाती है और चेतन मे वे दोनो भाई-बहिन बने रहते हैं—पवित्र रहते हैं किन्तु अचेतन मे उनकी वासना निरन्तर सघर्ष करती रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि दोनो मे से चैन किसी को नही मिलता। यह फ्रायड का मनोविश्लेषण सिद्धान्त है।[3]

इस प्रकार, ऊपर के विवेचन विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेम और वासना ही वह मूल सवेदना है, जो शेखर के व्यक्तित्व को आन्दोलित और स्थापित करती है। द्रष्टा शेखर का, भोक्ता शेखर के सम्बन्ध म भी यही अभिमत है कि 'यदि स्त्रियाँ न होती, तो शायद वह जी नही सकता।' इससे निष्कर्ष यह हाथ लगता है कि प्रणय ही वह मूल प्रवृत्ति है, जो शेखर को विभिन्न [illegible] है। प्रेमी सर्जक रचनाकार तो होता [illegible] वस्तुत अह से ग्रस्त दीखने वाला [illegible] विद्रोही है, जिसका व्यक्तित्व [illegible] धार पर, 'शेखर एक जीवनी' को 'रोमैन्टिक विद्रोह' का उपन्यास कहना अधिक उपयुक्त तथा अर्थ सगत जान पडता है।

1 शेखर एक जीवनी, भाग 2, पृ० 166

2 (क) डॉ० मक्खनलाल शर्मा 'हिन्दी उपन्यास सिद्धान्त और समीक्षा', पृ० 169
(ख) अज्ञेय हिन्दी-साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य, पृ 79

3 "An incestuous love strikes repression, the emotional and the sexual components are separated, and the only emotional component persists in consciousness owing to its apparent desexualization The original love is transferred to a new feminine object which resembles the former, but the link between sexual emotion and genital sexuality is not re established"

('Psycho-Analytical Method and the Doctrine of Freud, Vol I. Dalbez, p 134)

नदी के द्वीप (1951)

'नदी के द्वीप' अज्ञेय का दूसरा उपन्यास है। 'शेखर : एक जीवनी' की भाँति ही इसका भी उपजीव्य और स्वर मनोविश्लेषणात्मक है। 'शेखर : एक जीवनी' शेखर (व्यक्ति) का जीवनीमूलक उपन्यास है जिसमें 'रोमैंटिक विद्रोह' को बड़ी निपुणता से अभिव्यक्त किया गया है। ठीक उसी प्रकार, 'नदी के द्वीप' में भी व्यक्ति-नायक—भुवन के प्रणय व्यापार तथा यौन भाव को विश्लेषित कर, उसके माध्यम से व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन के प्रस्तुतीकरण का प्रयास किया गया है। अतः इसे भी प्रणय-मूलक अथवा 'रोमैंटिक' उपन्यास की ही संज्ञा प्रदान करना युक्ति-संगत प्रतीत होता है

अज्ञेय के इस मन्तव्य के साथ आसानी से सहमत हुआ जा सकता है कि "नदी के द्वीप' व्यक्ति-चरित्र का उपन्यास है। घटना उसमें प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से काफी है, पर घटना-प्रधान उपन्यास वह नहीं है। शेखर की तरह वह परिस्थितियों में विकसित होते हुए एक व्यक्ति का चित्र है और उस चित्र के निमित्त उन परिस्थितियों की आलोचना भी नहीं है। वह व्यक्ति-चरित्र का, चरित्र के उद्घाटन का उपन्यास है"[1] इसमें मुख्य रूप से भुवन के चरित्र को उपन्यासकार ने विश्लेषित व उद्घाटित किया है। भुवन के अलावा—रेखा, गौरा और चन्द्रमाधव तीन और भी मुख्य पात्र हैं। इन्हीं चार व्यक्ति-चरित्रों (Individual Characters) का उद्घाटन और सम्यक् विश्लेषण उपन्यासकार अज्ञेय का अभीष्ट तथा विवेच्य उपन्यास का उपजीव्य है। डॉ० देवराज के शब्दों में कहा जा सकता है कि 'वर्ण्यजगत, परिवश अथवा पात्र की प्रत्येक विशेषता को यह कलाकार भिन्न, विशिष्ट रूप में रखता है। उनकी प्रत्येक अनुभूति प्रत्येक क्षण व्यक्तित्व-सम्पन्न है।"[2]

विवेच्य उपन्यास का शीर्षक प्रतीकात्मक, अर्थ-संगत एवं प्रतिपाद्य बोधक है। प्रस्तुत प्रतीक-रूपक का प्रयोग प्रमुखतः वैचारिक अर्थ व्यंजनाओं के निमित्त ही हुआ है। उदाहरण के तौर कुछ स्थल द्रष्टव्य हैं

(क) 'हम अधिक से अधिक इस प्रवाह में छोटे-छोटे द्वीप हैं, उस प्रवाह से घिरे हुए भी, उससे कटे हुए भी, भूमि से बँधे और स्थिर भी, पर प्रवाह में सर्वदा असहाय भी . ।'[3]

1. अज्ञेय 'आत्मनेपद', पृ० 72
2. डॉ० देवराज 'आधुनिक समीक्षा', पृ० 139
3. 'नदी के द्वीप', पृ० 14

(ख) ' ' काल का प्रवाह नहीं, क्षण और क्षण और क्षण क्षण सनातन है छोटे छोटे ओएसिस सम्पृक्त क्षण नदी के द्वीप जो काल परम्परा नहीं मानता, तभी वह परिणामों के प्रति इतनी उपेक्षा रख सकता है—एक तरह से अनुत्तरदायी है पर इससे क्या ? उत्तर माँगने वाला कोई दूसरा है ही कौन ? मैं ही तो मुझसे उत्तर माँग सकता हूँ ? और अगर मैं अपने सामने अनुत्तरदायी हूँ, तो उसका फल मैं भोगूँगा—यानी अपने अनुत्तरदायित्व का उत्तरदायी मैं हूँ ।

क्या यह—परसों और कल और आज—वैसा ही एक द्वीप है—सम्पृक्त क्षणों का द्वीप—काल प्रवाहिनी म अटका हुआ एक अलग परम्परामुक्त खण्ड—जैसे रेखा कहती है ? परसों, कल, आज फिर महाशून्य—नहीं, आज, फिर दूसरा आज, फिर आज, तब महाशून्य ।"[1]

इसी प्रकार एक और भी उद्धरण देखा जा सकता है, जो उपन्यास के वस्तु-तत्त्व पर प्रकाश डालने के साथ-ही साथ इसके उद्देश्य को भी व्यञ्जित करता है 'हम जीवन की नदी के अलग अलग द्वीप हैं—ऐसे द्वीप स्थिर नहीं होते, नदी निरन्तर उनका भाग्य गढ़ती चलती है, द्वीप अलग अलग होकर भी निरन्तर घुलते और पुन बनते रहते हैं—नया घोल, नये अणुओं का मिश्रण, नयी तलछट, एक स्थान से मिटकर दूसरे स्थान पर जमते हुए नये द्वीप ।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि उपन्यासकार अज्ञेय की चिन्तन और जीवन-दृष्टि मूलत व्यक्तिनिष्ठ है। यहाँ 'द्वीप-सत्य' 'व्यक्ति सत्य' के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ है। द्वीप की ऐकान्तिकता, सामाजिक भीड़ भाड़ से व्यक्ति की संवेदनगत चेतना के अलगाव का अकेलापन प्रस्तुत करती है।

अज्ञेय ने प्राय अपने सभी उपन्यासों म पात्रों के चरित्र को ही उदघाटित व विश्लेषित करने का उपक्रम किया है, वह भी एक इकाई अथवा कहे—समाज से विशृंखलित इकाई—के रूप म ही किया है, वह चाहे शेखर हो या भुवन। भुवन खासा एक व्यक्ति चरित्र है जिसके माध्यम से व्यक्ति की आन्तरिक गुत्थियों व समस्याओं को सम्पूर्ण उपन्यास म प्रस्तुत किया गया है। अज्ञेय के ही शब्दों में—' नदी के द्वीप" समाज के जीवन का चित्र नहीं है, एक वर्ग क जीवन का है पात्र साधारण जन नहीं हैं, एक वर्ग क व्यक्ति हैं और वह वर्ग भी संख्या की दृष्टि से अप्रधान ही है, लेकिन कसौटी मेरी समझ म यह होनी चाहिए कि क्या वह जिस भी वर्ग का चित्रण है, उसका सच्चा चित्र है ? क्या

1 नदी के द्वीप, पृ० 130

उस वर्ग मे ऐसे लोग होते हैं, उनका जीवन ऐसा जीवन होता है, सवेदनाएँ ऐसी सवेदनाएँ होती हैं ? अगर हाँ, तो उपन्यास सच्चा और प्रामाणिक है, और उसके चरित्र भी वास्तविक और सच्चे हैं ।"[1]

'शेखर एक जीवनी' की ही भाँति 'नदी के द्वीप' का भी मुख्य स्वर मनोविश्लेषणपरक तथा प्रणयमूलक है। अह, यौन (सेक्स) तथा प्रेम और वासना के भावों से जैसे शेखर सम्पृक्त है, वैसे ही 'नदी के द्वीप' का चरितनायक —भुवन भी वैसी ही सवेदनशीलता, यौनभावना तथा अहम्मन्यता से ग्रस्त है। इसके दो कारण माने जा सकते हैं पहला कारण तो उपन्यासकार अज्ञेय के दृष्टिकोण से सम्बद्ध है। चूँकि उनका चिन्तन व्यष्टि के मनोवैज्ञानिक धरातल पर आधृत है, इसलिए सर्वत्र और सदैव ये व्यक्ति के यथार्थ पर ही सम्पूर्णत बल देते है। दूसरी बात, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, वह कि 'नदी के द्वीप' पृथक् और स्वतन्त्र उपन्यास होते हुए भी (*अवान्तर एव अन्तरिम् रूप से*) वस्तुतः 'शेखर एक जीवनी' का ही विकास अथवा प्रकारान्तर से प्रस्तावित तीसरा भाग है।[2] अत 'शेखर' की समस्त सम्भावनाएँ पूँजीभूत होकर 'नदी के द्वीप' मे परिलक्षित होती हैं।

विवेच्य उपन्यास मे घटना अत्यल्प सूक्ष्म किन्तु पात्रो (चरित्रों) की मन-स्थितियो की विश्लेषणात्मक रेखाएँ अथोर हैं। इनमे मुख्य पात्र केवल चार हैं: *भुवन, रेखा, गौरा और चन्द्रमाधव*। यदि और गहराई *तथा* सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो भुवन और रेखा,[3] विशेषत भुवन ही विशिष्ट पात्र के रूप मे सम्पूर्ण उपन्यास की परिधि मे घूमता हुआ दिखाई पड़ता है। वैज्ञानिक होने के बावजूद वह अत्यन्त भावुक, सवेदनशील, अत कला-रुचि-सम्पन्न है। रेखा सुशिक्षित तथा

1 अज्ञय आत्मनेपद', पृ० 73

2 (क) श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी का भी इस सम्बन्ध मे ऐसा ही मत है। वे भी 'नदी के द्वीप' को 'शेखर' का ही परिशिष्ट व प्रस्तावित तीसरा भाग मानने के पक्ष में अपना तर्क प्रस्तुत करते हैं।

(हिन्दी नवलेखन, पृ० 99)

(ख) डॉ० इन्द्रनाथ मदान का अभिमत भी ठीक इससे मिलता-जुलता है कि उनके विचार से—'रेखा शशि का विकसित रूप है और भुवन शेखर का परिशिष्ट रूप, जो शेखर के अभाव को पूरा करता है।'

(आज का हिन्दी उपन्यास, पृ० 51)

3 स्वय उपन्यासकार अज्ञेय का कहना है कि 'रेखा 'नदी के द्वीप' का सबसे अधिक परिपक्व पात्र है। मेरी दृष्टि में वही उपन्यास का प्रधान पात्र भी है।'

—'आत्मनेपद', पृ० 83

संवेदनशील आधुनिका नारी है, जिसका अपने वैधानिक पति : हेमेन्द्र के साथ सम्बन्ध विच्छेद हो चुका है। मूल रूप से वह यौन-भाव से पीड़ित है, जो प्रारम्भ में भुवन के प्रति प्रवृत्त और अर्पित होती है और फिर बाद मे एक अन्य डॉक्टर: रमेशचन्द्र के साथ अपना वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लेती है। गौरा पहले भुवन की शिष्या और पुन आगे चलकर उसकी प्रेमिका बन जाती है। इस प्रकार, उसके अन्दर भी अतृप्त काम-वासना का ही प्राबल्य है। चौथा पात्र है— चन्द्रमाधव। वह भी मुख्यत यौन-भाव से ही ग्रस्त अथवा पीडित व्यक्ति-चरित्र है। अपनी पत्नी से असतुष्ट होकर वह दुराव पालता तथा रेखा व गौरा से अपनी अतृप्त वासना या काम-भावना की तुष्टि का निरतर प्रयास करता है। इस प्रकार, ऊपर के इस विवेचन से तथ्य यह हाथ लगता है कि आलोच्य उपन्यास में सर्वत्र यौन भाव (उपन्यास का असल मे यही केन्द्रबिन्दु भी है) तथा उससे उद्भूत रुग्ण कुण्ठाओ, जटिल संवेदनाओ तथा दर्द की आकुल अनुभूतियो एव मन स्थिति को समग्रत विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है।

'नदी के द्वीप' मे कथात्मक संघटना कम, चारित्रिक विश्लेषण अधिक है। ये चरित्र आरोपित न होकर खासा मनोवैज्ञानिक हैं। इसलिए कही भी और कभी भी वे अपरिचित और अनजान बनकर हमारे समक्ष प्रस्तुत नही होते। उपन्यासकार अज्ञेय ने अपने इस उपन्यास मे पात्रो अथवा चरित्रो के अन्तर्भावो का विश्लेषण मनोविज्ञान की सैद्धान्तिक प्रयोगशाला में रखकर किया है। यही कारण है कि इस उपन्यास के शिल्प-विधान में भी अपेक्षाकृत अधुनातन मनोवैज्ञानिक विधियाँ, जैसे—पूर्व दीप्ति अथवा प्रत्यक् दर्शन-प्रणाली (Flash back Style), चेतना प्रवाहावन (Stream of Consciousness) एव अन्तर्चित्रो (Inside Views) आदि का प्रायोगिक संधान किया गया है। इस प्रकार 'नदी के द्वीप' मे अज्ञेय ने मनोविज्ञान का प्रयोग भाव और शिल्प—दोनो ही रूपो मे सफलता के साथ किया है। अस्तु, इसकी मनोवैज्ञानिकता निर्विवाद है। डॉ० देवराज उपाध्याय लिखते हैं : "जेम्स ज्वायस की उपन्यास-कला की विशेष विवेचना करते हुए Harry Levin ने कहा कि जेम्स के उपन्यास के रूपविधान मे युग के सारतत्व का रहस्य खोल उठा है। चलचित्र की Montage, चित्रकला की Impressionism, सगीत की Liet Motif, मनोविश्लेषण की स्वतन्त्र चेतना—साहचर्य पद्धति तथा दर्शन की Vitalism—इन सबसे कुछ अंश लेकर तथा अपनी ओर से कुछ और जोडकर एक मिश्रण घालकर तैयार कीजिए और यही 'यूलिसिस' की कला होगी। यही बात अज्ञेय के बारे में लागू होती है।"[1]

1 डॉ० देवराज उपाध्याय 'आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान', पृ० 190

'नदी के द्वीप' की कथावस्तु अत्यन्त रोमैन्टिक है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार 'शेखर एक जीवनी' की। इसकी कथावस्तु की सम्पूर्णता मे प्रणय के सश्लिष्ट भाव काम करते हैं। अत कुलमिलाकर, इसे प्रेममूलक अथवा 'रोमैन्टिक' उपन्यास की सज्ञा से अभिहित कर सकते हैं। इसमे आगत पात्रा के प्रणय-सम्बन्धो का विकास अत्यन्त मनोवैज्ञानिक तथा क्रमिक ढग से हुआ है। इस दृष्टि से स्वय उपन्यासकार अज्ञेय का यह विश्लेषण द्रष्टव्य है "मैत्री, सख्य प्रेम—इसका विकास धीरे-धीरे होता है, ऐसा हम मानते हैं, प्रथम दर्शन से ही प्रेम की सम्भावना स्वीकार कर लेने से भी इसमे कोई अन्तर नही आता। पर धीरे-धीरे होता हुआ भी वह समगति से बढने वाला विकास नही होता, सीढियो की तरह बढने वाली उसकी गति होती है, क्रमश नये-नये उच्चतर स्तर पर पहुँचने वाली। कली का प्रस्फुटन उसकी ठीक उपमा नही है, जिसका क्रम-विकास हम अनुक्षण देख सकें धीरे धीरे रग भरता है, पखुडियाँ खिलती हैं, सौरभ सचित होता है और डोलती हवाएँ रूप को निखार देती जाती हैं। ठीक उपमा साँझ का आकाश है एक क्षण सूना कि सहसा हम देखते हैं, अरे, वह तारा! और जब तक हम चौंककर सोचें कि यह हमने क्षण भर पहले क्यो न देखा—क्या तब नहीं था? तब तक इधर-उधर, आगे, ऊपर कितने ही तारे खिल आए, तारे ही नही, राशि राशि नक्षत्र-मडल, धूमिल उल्का-कुल, मुक्त प्रवाहिनी नभपयस्विनी—अरे आकाश सूना कहाँ है, वह तो भरा हुआ है रहस्यो से जो हमारे आगे उद्घाटित हैं · प्यार भी ऐसा ही है, एक समुन्नत ढलान नही, परिचिति के, आध्यात्मिक सस्पर्श के नये-नये स्तरों का उन्मेष · · । ××× गौरा से भुवन का चौदह वर्ष का—याकि सात-आठ वर्ष का—परिचय भी ऐसा ही था। इस लम्बे अन्तराल के बाद जो नया परिचय हुआ था, वह पहले परिचय से बिल्कुल भिन्न स्तर पर था, दूसरे स्तर पर वह समगति से चल रहा था कि सहसा एक झोके से वह स्तर थोर उठा—या गहरे मे चला गया।"[1]

'नदी के द्वीप' वस्तुत एक प्रेम उपन्यास है। इसमे व्यक्त प्रणय की सवेदना को जीवन्त, प्राणवान तथा परिपक्व बनाती है—एक प्रकार की आन्तरिक वेदना अथवा पीडा। यह पीडा सर्जनात्मक व विधेयात्मक है। उपन्यासकार ने दरअसल इसे एक सर्जनात्मक ऊर्जा तथा तत्त्व के रूप म स्वीकार किया है। पीडा को अज्ञेय तपस्या के रूप मे स्वीकार करते हैं। 'शेखर एक जीवनी' के बिल्कुल प्रारम्भ म उन्होने 'वेदना' तत्त्व को 'शक्ति' के रूप मे प्रयुक्त किया है 'वेदना मे एक शक्ति है,

1 'नदी के द्वीप', पृ० 63

जो दृष्टि देती है। जो यातना मे है, वह द्रष्टा हो सकता है।' पीडा का दर्शन उनके काव्य के माध्यम से भी व्यक्त हुआ है और साथ ही प्रोक्त उपन्यासो के द्वारा भी। इस 'वेदना' तत्त्व के आलोक मे ही शेखर की दृष्टि का निर्माण होता है, जबकि 'नदी के द्वीप' का नायक—भुवन इस पीडा के द्वारा 'मुक्ति' प्राप्त करने की चेष्टा करता है। लेखक ने इस 'वेदना' अथवा 'पीडा' के तत्त्व को बार-बार सबल रूप मे स्वीकार और व्यक्त किया है। उपन्यास ('नदी के द्वीप') के बिल्कुल आरम्भ मे, बल्कि आरम्भ से भी पूर्व उसने दु ख के स्थापत्य को इन शब्दो मे सँवारा है :

"दुःख सबको माँजता है।
और—
चाहे स्वय सबको मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु
जिनको माँजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।"

'नदी के द्वीप' के पात्रो—रेखा, गौरा और भुवन का चारित्रिक विकास इसी 'पीडा' अथवा 'वेदना' तत्त्व के परिप्रेक्ष्य में हुआ है। पीडा के ससर्ग से रेखा मे उदारता के भावों का स्फुरण तथा उद्रेक होता है। इसका परिणाम यह होता है कि स्वय वेदना को सहन कर, भुवन और गौरा के प्रति वह सवेदनशील बन जाती है। गौरा को चूडियो की भेंट करना उसकी (रेखा की) इसी संवेदनशील मनोभावना का उदाहरण है। पुन : बाद मे रेखा अपनी अँगूठी भी गौरा के पास भेज देती है, जो उसकी मसृण मनोवृत्ति का द्योतक है। रेखा ने बार-बार इस 'वेदना' के महत्त्व को समझा-बूझा तथा स्वीकारा और आत्मसात् किया है। एक स्थल[1] पर वह कहती है :

"तुमने एक ही बार वेदना मे मुझे जना था, माँ
पर मैं बार-बार अपने को जनता हूँ
और मरता हूँ
पुनः जनता हूँ और पुन: मरता हूँ
और फिर जनता हूँ,
क्योकि वेदना मे मैं अपनी माँ हूँ।"[2]

1 नदी के द्वीप, पृ॰ 107

2 'नदी के द्वीप' की ये पक्तियाँ, जैसा कि अज्ञेय ने स्वय लिखा है, उनकी नहीं हैं। जर्मन कवि एर्न्स्ट टालर का अनुवाद है।"

—अपरोक्ष : अज्ञेय, पृ॰ 56

रेखा का चरित्र सामान्य नही, विशिष्ट है। न तो उसमे शरत्चन्द्र के नारी-पात्रो का आत्म-पीडन है और न पारम्परिक प्रणय-कथा का ईर्ष्या-भाव। आरम्भ से ही उसके (रेखा के) मन मे गौरा के प्रति सख्य-भाव की मसृणता वर्त्तमान है, जिसकी अभिव्यक्ति होती है उस काव्य के माध्यम से, जिसे उसने गौरा को प्रथम मिलन मे चन्द्रमाधव के समक्ष सुनाया था

"तोमाय
साजावो यतने कुसुमे रतने
केयूरे कवणे कुकुमे चन्दने
साजावो
किछुवे रगने
तोमाय ...।"

अज्ञेय के प्रस्तुत उपन्यास मे वेदना या पीडा को एक सशक्त दर्शन के रूप मे अभिव्यक्ति मिली है। इस पीडावाद पर छायावाद तथा बौद्ध दर्शन के दु खवाद का छाया-प्रभाव परिलक्षित होता है। 'शेखर एक जीवनी' मे शेखर का प्रमुख लक्ष्य था स्वतन्त्रता (Freedom) जबकि 'नदी के द्वीप' का लक्ष्य है: मुक्ति (Salvation)। यही कारण है कि रेखा के चरित्र मे प्रेम बन्धन का नही— मुक्ति का काम करता है। रेखा आत्म-पीडन के मूल्य पर भुवन और गौरा के प्रति सवेदनशील बनती तथा भुवन को अपने-आपसे मुक्त करती है। गौरा भी कुछ ऐसी ही है। वियोग और विरह मे ही उसे विशेष आनन्द मिलता है। इससे यह बात भली-भांति स्पष्ट हो जाती है कि अज्ञेय ने पीडा अथवा वेदना को समग्रत: एक सबल तत्त्व व दर्शन के रूप मे व्यक्त किया है। यह एक ऐसा विशिष्ट तत्त्व है, जो मानव को करुण, निश्छल, उदार और इस प्रकार, अन्तत. उदात्त बनाता है। निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि अज्ञेय ने 'वेदना' को जीवन के विधायक तत्त्व के रूप मे अभिज्ञापित तथा प्रतिष्ठित करने का उपक्रम किया है।

'नदी के द्वीप' मे अज्ञेय ने व्यक्ति-पात्रो अथवा चरित्रो की गहन मन स्थितियो का विश्लेषण अत्याधुनिक जीवन-बोध तथा उसके विविध सदर्भो मे किया है। अकेलापन तथा अजनबीपन आधुनिक मनुष्य की नियति बन गया है। वह समाज मे रहकर भी उससे कटा हुआ है, साथ ही अपने एकाकीपन में भी वह सर्वथा अलगाव और कटाव की पृथकता मात्र को ही झेलता हो—ऐसा भी नही है। आज का मनुष्य अपनी कुण्ठाओं से इस कदर ग्रस्त है कि अपने से बाहर वह सोच ही नहीं पाता—सोच सकता भी नहीं। 'नदी के द्वीप' के प्राय सभी पात्र; चाहे

चाहे भुवन हो, चाहे रेखा अथवा गौरा—सभी के सभी इसके उदाहरण हैं। ये समस्त पात्र मुक्त हैं, फिर भी अपने-अपने ढग से अलग-अलग तौर पर सोचते-समझते, निर्णय करते तथा झेलते और भोगते है। सामाजिक अवरोधो से उन्मुक्त होने के बावजूद इनके दर्द अनकहे रह जाते हैं। ये पात्र एक-दूसरे से आबद्ध होते हुए भी परस्पर एक प्रकार का अलगाव और अकेलापन महसूस करते है। भुवन और रेखा मे प्रणय तथा यौन-सम्बन्ध होते हुए भी वे अपनी जीवन-यात्रा म सदा के लिए एक-दूसरे को साथ नही बांध पाते। उनमे कहीं-न-कही कोई दुराव, कोई अन्तराल अवश्य है। इसीलिए भुवन के लाख मना करने पर भी रेखा अपने गर्भ मे स्थित उसकी (भुवन की) सन्तान को गिरा कर नष्ट कर देती है। गौरा और भुवन मे तीव्र आकर्षण-भाव अवश्य है, किन्तु वे उसकी अभिव्यक्ति साफ तौर पर नही कर पाते। बल्कि आकर्षण-जन्य जो दर्द है, उससे दोनो म ही छटपटाहट होती है, किन्तु दोनो ही उस दर्द को मौन-भाव से झेल लेते हैं। गौरा को तो जैसे इन्ही और ऐसी ही यातनाओ को झेलने मे विशेष सुख प्राप्त होता है।

'नदी के द्वीप' मे आधुनिक मनुष्य के व्यक्तित्व का नया आयाम प्रस्तुत किया गया है। आज के मनुष्य मे प्राय कुण्ठा, तनाव और बिखराव का प्राधान्य हो गया है। यह मन स्थिति मुख्यत मध्यवर्ग की है।[1] आज के युग-जीवन मे मानवीय सम्बन्धो मे एक ओर तीव्र-आकर्षण और-संश्लिष्ट ऐक्य-भाव दिखाई पडता है, तो दूसरी ओर तनाव, बिखराव और टूटन। यही कारण है कि आज मानवीय सम्बन्ध जितनी शीघ्रता और तीव्रता मे स्थापित होते हैं, उतनी क्षिप्रता से वे टूट भी जाते हैं। उदाहरण के बतौर भुवन और रेखा के सम्बन्ध को लें : भुवन और रेखा मे सम्बन्ध का गाढापन जितना अधिक है, ठीक उसी अनुपात मे छिजन भी। दूसरे शब्दो मे यो कहे कि उनका पारस्परिक सबध आकर्षण और विकर्षण की दुविधाओ मे पलता, विकसित होता और अन्त मे, तनाव के कारण टूट जाता है। सामीप्य के इस बिखराव और टूटन को भुवन अपने एक पत्र मे इन शब्दों में व्यक्त करता है : 'रेखा, एक बात को तुम समझोगी—तुम नही समझोगी तो

1 अज्ञेय ने कुण्ठा का विश्लेषण करते हुए बिल्कुल ठीक लिखा है कि "आज का कवि (रचनाकार) मुख्यत मध्यवर्ग से आता है और मुख्यत मध्यवर्ग का ही जीवन चित्रित करता है. इसी वर्ग में वर्जनाएँ सबसे अधिक क्रियाशील हैं और इसलिए इसी वर्ग में कुण्ठाएँ सबसे स्पष्ट लक्षित होती हैं। × × × कुण्ठा वहीं हो सकती है जहाँ किसी निषेध के कारण प्रवृत्ति और आचरण में विरोध की गाँठ पड़ जाए।"

(लिखि कागद कोरे . प्रथम सस्करण, पृ० 84)

कोई नहीं समझ सकेगा—प्यार मिलाता है, व्यथा भी मिलाती है, साथ भोगा हुआ क्लेश भी मिलाता है, लेकिन क्या ऐसा नहीं है कि एक सीमा पार कर लेने पर ये अनुभूतियाँ मिलाती नहीं, अलग कर देती हैं, सदा के लिए और अन्तिम रूप से ?...'

दरअसल, आज का मानवीय सम्बन्ध दो विपरीत दिशाओं तथा विरोधी वृत्तियों की रस्साकशी में पलता और दोलायित होता है। अत: आज के मनुष्य का यही जीवन-द्वन्द्व भी है, जिसे अज्ञेय ने अपने इस उपन्यास में वैयक्तिक स्तर पर उभारने की भरपूर चेष्टा की है। मानवीय सम्बन्धों में निहित इस तनाव, बिखराव और टूटन को उन्होंने भली भाँति पहचाना और महसूस किया है। अज्ञेय की एतद्-सम्बन्धी अभिव्यक्ति का आधार-फलक निश्चय ही सामाजिक जीवन न होकर वैयक्तिक है। यही कारण है कि इनके उपन्यासों में व्यक्ति का वैयक्तिक रंग अत्यन्त गाढ़ा दिखाई पड़ता है। इस सन्दर्भ में एक बात और भी विशेष रूप से यह कहनी है कि 'नदी के द्वीप' में आधुनिकता की चुनौती को सर्वथा वैयक्तिक स्तर पर स्वीकारा और व्यक्त किया गया है। बहरहाल, 'नदी के द्वीप' के लेखक का अभीष्ट सामाजिक जीवन-प्रवाह के व्याप्ति-विस्तार का अंकन न होकर, व्यक्ति द्वीपों के समस्त आन्तरिक ऐक्य को आधुनिक सन्दर्भों में विश्लेषित तथा प्रस्तुत करना है, जिसमें उसे बेहद सफलता प्राप्त हुई है।

अपने अपने अजनबी : (1961)

'अपने-अपने अजनबी'—अज्ञेय का नव्यतम तथा अब तक प्रकाशित तीसरा और अन्तिम उपन्यास है। व्यक्ति के अकेलापन, अलगाव और अजनबीपन के जिस बोध को 'नदी के द्वीप' में गृहीत व स्पर्शित भर किया गया था, उसे ही 'अपने-अपने अजनबी' उपन्यास के व्यापक फलक पर कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया है। आज के मनुष्य के जीवन में इतनी अधिक अस्त-व्यस्तता और भाग दौड़ हो गई है कि आत्म-साक्षात्कार तक की फुर्सत उसे नहीं है। आस-पास, अगल-बगल सब-के सब उसे अजनबी-से लगते हैं. 'अजनबी चेहरे, अजनबी आवाजें, अजनबी मुद्राएँ और वह अजनबीपन केवल एक-दूसरे को दूर रखकर उससे बचने का ही नहीं है, बल्कि एक-दूसरे से सम्पर्क स्थापित करने की असमर्थता का भी है—जातियों और संस्कारों का अजनबीपन, जीवन के मूल्य का अजनबीपन।'[1] स्पष्ट है कि जीवन का अन्तर्बाह्य अजनबीपन ही रचनाकार

1 अपने-अपने अजनबी, पृ० 104

की मूलभूत संवेदना के रूप में अभिव्यक्त होता है।

जीवन-जगत में सबके-सब अजनबी ही अजनबी हैं, किन्तु सबसे अधिक अजनबी है : 'मृत्यु का साक्षात्कार'। लेखक की दृष्टि में 'मृत्यु' ही जीवन का परम सत्य व तत्त्व है। वस्तुतः यही ('मृत्यु' ही) जीवन को अर्थवत्ता प्रदान करती है, अतः सर्वाधिक महत्ता भी उसी की है। उपन्यासकार अज्ञेय ने अपने प्रस्तुत उपन्यास में जीवन के अजनबीपन तथा एकाकीपन की समस्या के साथ ही साथ मानव-अस्तित्व, मृत्यु तथा ईश्वर आदि के प्रश्नों को अस्तित्ववादी दर्शन के परिप्रेक्ष्य में अन्वेषित करने तथा उकेरने की चेष्टा की है। 'सेलर एक जीवनी' की भी मुख्य संवेदना, 'फाँसी' अथवा 'मृत्यु-भय' ही है, फिर भी उपन्यासकार अज्ञेय के ही शब्दों में—'अन्तर केवल यह है कि शेखर के सामने प्रश्न यह था कि मेरी मृत्यु की सिद्धि क्या है यानी मैं मर जाता हूँ तो कुलमिलाकर मेरे जीवन का क्या अर्थ हुआ ? पर, यहाँ यह है कि जीवन मात्र के नक्शे में मृत्यु मात्र का स्थान है और यहाँ मैंने दो दृष्टियों को सामने लाने की कोशिश की है। एक को मोटे तौर पर पूर्व की कह सकते हैं और दूसरे को पश्चिम की।"[1] इसमें पूर्व की दृष्टि के रूप में सेल्मा की सृष्टि की गई है, जबकि पश्चिम की दृष्टि योके की। सेल्मा में आस्था, विश्वास और धैर्य है तो योके का मन-प्राण अनास्था से आविल है। मृत्यु-बोध दोनों को ही है, किन्तु दोनों में सबसे बड़ा फर्क यह है कि 'सेल्मा मरती हुई भी जिये जा रही है और मैं (योके) हूँ कि जीती हुई भी मर रही हूँ और मरना चाह रही हूँ।"[2]

इससे यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि पौर्वात्य और पाश्चात्य जीवन-दृष्टि की पारस्परिक टकराहट और उसके तनाव को अज्ञेय ने अपनी प्रस्तुत कृति में रचनागत संस्कार व संवेदना के रूप में अनुभूत तथा अभिव्यक्त किया है। इस सम्बन्ध में श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी का यह कहना बिल्कुल सही तथा समीचीन प्रतीत होता है कि—"समकालीन साहित्य में पूर्व और पश्चिम की टकराहट का साक्ष्य अज्ञेय के कृतित्व ने आरम्भ से ही प्रस्तुत किया है। पश्चिम का दबाव लेखक के उपन्यासों में अधिक है, काव्य का रूप मूलतः तद्भव, ठेठ और भारतीय है। उदाहरण के लिए 'आँगन के पार द्वार' और 'अपने-अपने अजनबी' को लिया जा सकता है। काव्य-संकलन के प्रतीक और बिम्ब, और तदनुरूप उनकी संवेदना, अनिवार्यतः भारतीय जीवन से गृहीत है। पिछले संकलनों की

1 'अपने-अपने अजनबी'—लेखक की दृष्टि में—'ज्ञानोदय', जुलाई 63, पृ० 20

2 'अपने अपने अजनबी' (तीसरा संस्करण), पृ० 35

तुलना मे यहाँ पश्चिम का प्रभाव भारतीय उन्मेष मे घुल-मिल गया है। दूसरी ओर 'अपने-अपने अजनबी' है। इसका विषय पश्चिम के जीवन से सम्बद्ध है, यह गौण बात है। पर रचना की वस्तु को प्रस्तुत करने मे भी लेखक के दूसरी दिशा मे प्रयत्न के बावजूद अन्तत पश्चिम की ही दृष्टि उभरती जान पडती है। उपन्यास के अन्तिम अश में पश्चिम की एक मृत्यु को पूर्व का चरित्र जगन्नाथन—एक अजनबी साक्षी—मानो सार्थकता प्रदान करता है। पर रचना मे पश्चिम की दृष्टि परिभाषित है, जबकि पूर्व के प्रतिनिधि जगन्नाथन की दृष्टि का ठीक-ठीक आख्यान नही हो पाया है।[1] इस कथन के उत्तरार्द्ध या कहें, अन्तिम वाक्य से पूर्णत सहमत होना कठिन है। रचना ('अपने-अपने अजनबी') मे जहाँ पश्चिम की दृष्टि परिभाषित होती है, वहाँ उसी के समानान्तर और विलोम मे पूर्व के प्रतिनिधि जगन्नाथन की जीवन-दृष्टि के माध्यम से पूर्व का दृष्टि-दर्शन भी ध्वनित और अभिव्यञ्जित होता है। अज्ञेय का साहित्य अभिधा या लक्षणा-मूलक कम, मुख्यत व्यञ्जना-सिद्ध ही अधिक है। इसलिए केवल 'पश्चिम की दृष्टि' खोजना रचना के साथ न्याय-सगत नही माना जा सकता। मेरी दृष्टि में 'अपने-अपने अजनबी' मे पौर्वात्य (भारतीय से ही विशेष तात्पर्य है) और पाश्चात्य जीवन-दृष्टि की सश्लिष्टता को ध्वनित करना उपन्यासकार का अभीष्ट है। उसमे न तो कहीं-कोई एकागिता है और न किसी प्रकार का पूर्वग्रह। यहीं पर रचनाकार अज्ञेय की रचनागत निलिप्तता, तटस्थता और सवेदना के प्रति ईमानदारी का अनुबोधन भी होता है।

अज्ञेय ने अपने प्रस्तुत उपन्यास को तीन उप-शीर्षकों मे विभाजित किया है :

1—योके और सेल्मा
2—सेल्मा
3—योके।

'योके और सेल्मा' मे बर्फ से आवृत्त और कब्रनुमा घर मे साथ-साथ रहती हुई योके और सेल्मा की—द्वन्द्वात्मक मानस-कथा है। 'सेल्मा' मे सेल्मा के अतीत की कथा 'प्रत्यक्-दर्शन-प्रणाली' ('फ्लैश-बैक-टेकनीक') द्वारा प्रस्तुत की गई है। और 'योके' में योके की आकस्मिक मृत्यु और उसकी मानसिकता को उभारा और विश्लेषित किया गया है।

सेल्मा—वृद्धा सेल्मा गडेरिये की माँ है, जो पहाड पर रहता है और सर्दियों

1 रामस्वरूप चतुर्वेदी अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या पृ० 116 17

में हर बार अपने दोनों लड़कों के साथ नीचे चली जाती है किन्तु, इस बार नहीं जा सकी। योके पहाड़ की सैर की दृष्टि से अपने प्रेमी पॉल सोरेन के साथ वहाँ गई थी। वर्फ में घिर जाने और प्रेमी से वियुक्त होने के कारण वह सेल्मा के यहाँ आश्रय ग्रहण करती है। योके इस बात से आश्वस्त है कि उसका प्रेमी—पॉल उसे निश्चित रूप से खोज लेगा, क्योंकि वह (पॉल) 'कहा करता है कि तुम दुनियाँ के किसी भी देश में होती तो मैं तुम्हें खोज निकालता—लाखों, करोड़ों में तुरन्त पहचान लेता' वह दूसरी टोली के साथ दूसरे पहाड़ पर गया था और बर्फ से उतरते आते हुए नीचे मिलने की बात थी। ढाई महीने तीन महीने! बन्दगाह—क्रिसमस! पाताल लोक में देव-शिशु का उत्सव। नरक में भगवान! पॉल ढूंढ निकालेगा—पर किसको? मुझको, या मेरी··।"[1] योके के लिए परिस्थिति बिल्कुल नयी है किन्तु, सेल्मा तो इसमें सधी हुई है। बहरहाल, योके के लिए सारी परिस्थिति, सारी वस्तु और यहाँ तक कि साथ रहने वाली सेल्मा भी अजनबी है। अजनबीपन की यह विषम स्थिति उसके लिए अत्यन्त कष्टकर मालूम होती है। अपने अस्तित्व-बोध के प्रति वह सचेत है। उसकी रक्षा भी वह खूब करना चाहती है। अस्तित्व-बोध-सम्बन्धी उसकी यह संवेदना और चेतना इन पंक्तियों में उजागर होती हुई दिखाई पड़ती है, जहाँ वह सोचती है. "एक धुंधली रोशनी—एक ठिठका हुआ नि:संग जीवन! मानो घड़ी ही जीवन को चलाती है, मानो एक छोटी-सी मशीन ने जिसकी चाबी तक हमारे हाथ में है, ईश्वर की जगह ले ली है। और हम हैं कि हमारे इतना भी वश नहीं है कि उस यंत्र को चाबी न दें, घड़ी को रुक जाने दें, ईश्वर का स्थान हड़पने के लिए यन्त्र के प्रति विद्रोह कर दें, अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दें! घड़ी के रुक जाने से समय तो नहीं रुक जायेगा और रुक भी जायेगा तो यहाँ पर क्या अंतर होने वाला है, घड़ी के चलने पर भी तो यहाँ समय जड़ीभूत है! एक ही अन्तहीन लम्बे शिथिल क्षण में मैं जी रही हूँ—जीती जा रही हूँ और वह क्षण जरा भी नहीं बदलता, टस-से-मस नहीं होता है। क्या अपने सारे विकास के बावजूद हम मनुष्य भी निरे पौधे नहीं हैं जो केवल सूरज की ओर उगते हैं? अंधेरे में भी अंकुर मिट्टी के भीतर-ही-भीतर सूरज की ओर उगते हैं? अंधेरे में भी अंकुर मिट्टी में भीतर-ही-भीतर सूरज की ओर बढ़ता है, रौंदा जाकर फिर टेढ़ा होकर भी सूरज की ओर ही मुड़ता है।"[2]

सेल्मा और योके—दोनों ही बर्फ से घिरी हुई हैं। योके से यह स्थिति सहन

1 अपने-अपने अजनबी (तीसरा संस्करण) पृ० 13
2 अपने-अपने अजनबी, पृ० 16

नही होती, लेकिन सेल्मा सब कुछ अनासक्त भाव से जिये जा रही है। वत्र की ज़िन्दगी एक दिन नियति बनकर सामने आती है और तब मनुष्य उसमे भी एकाधिकार की कामना करने लगता है किन्तु व्यर्थ ! योके सोचती है कि 'यह कैसी परिस्थिति आ गयी है कि मुझे सब ओर बर्फ का भी ध्यान नही रहा है कि मैं यह भी भूल गयी हूँ कि हम दोनो एक ही क़ब्र के साझीदार हैं और सोचती हूँ तो केवल एक ही बात—कि अब साझीदार कब छूट जायेगा, और मैं इस कब्र मे अकेली रह जाऊँगी।"[1] सेल्मा और योके मे—उनके जीवन के सिद्धांतो में बहुत बड़ा फर्क है। वस्तुत दोनो का फर्क जीवन और मृत्यु के परस्पर विलोम का फर्क है। योके के ही शब्दो मे—"वह (सेल्मा) जानती है और जानकर मरती हुई भी जिये जा रही है। और मैं (योके) हूँ कि जीती हुई भी मर रही हूँ और मरना चाह रही हूँ।"

ईश्वर और मृत्यु के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ भी इद-इत्थ नही कहा जा सकता। वह किसी स्वीकृति मे बँध नही पाता—बँध नही सकता। वह केवल नकार है अमोघ नकार ! सेल्मा एक स्थल पर कहती है 'ईश्वर ईश्वर का नाम ले लेना तो बडा आसान है, लेकिन बडा मुश्किल भी है। और मौत और ईश्वर को हम अलग अलग पहचान भी तो कभी-कभी ही सकते हैं। बल्कि शायद मन से ईश्वर को तब तक पहचान ही नही सकते, जब तक कि मृत्यु मे ही उसे पहचान न लें। ' पुन उसका वैचारिक परिकथन भी कम ध्यातव्य नही है, जहाँ वह कहती है 'भ्रम भी क्या कम ईश्वर है ? और ईश्वर की कौन-सी पहचान हमारे पास है जो भ्रम नही है ? जब ईश्वर पहचान से परे है तो कोई भी पहचान भ्रम है। ईश्वर को हम कैसे जान सकते हैं ? जो हम जान सकते हैं वे कुछ गुण हैं—और गुण हैं इसलिए ईश्वर के तो नहीं हैं। हम पहचानते हैं अनिवार्यता, हम पहचानते हैं अतिम और चरम और सपूर्ण और अमोघ नकार—जिस नकार के आगे और कोई सवाल नही है और न कोई आगे जवाब ही इसीलिए मौत ही तो ईश्वर का एकमात्र पहचाना जा सकने वाला रूप है। पूरे नकार का ज्ञान ही सच्चा ईश्वर—ज्ञान है। बाकी सब सतही बातें हैं, और झूठ हैं।' दूसरी तरफ है—योके, जो ईश्वर या मृत्यु के अस्तित्व को स्वीकार नही करती। उसके लिए अह ही सब कुछ है—'स्व' के अस्तित्व को ही वह सर्वसर्वा मानती है। इसके लिए वह अपना तर्क इन शब्दो मे प्रस्तुत करती है "मैं अगर ईश्वर को नहीं मान सकती तो नही मान सकती, और अगर ईश्वर मृत्यु का ही दूसरा नाम है तो मैं उसे क्यो मानूँ ? मैं मृत्यु को नही मानती, न ही मान सकती,

1 अपने-अपने अजनबी, पृ० 35

नही मानना चाहती ! मृत्यु एक झूठ है, क्योंकि वह जीवन का खडन है। और मैं [illegible]

इन्हीं दिनों कैंसर की मरीज—सेल्मा की मृत्यु हो जाती है और योके को उससे छुटकारा मिलता है। पुन योके अपने अस्तित्व के सबध मे चिन्तन-अनुचिन्तन करती है 'क्या कही भी ईश्वर है, सिवा मानवो के बीच के इस परस्पर क्षमा-याचना के सम्बन्ध को छोड़कर ? यह क्षमा तो अभ्यास नही है, याचना भी अभ्यास नहीं है, तब यह सच है और ईश्वर है तो कही गहरे मे इसी म होगा ·· पर क्या क्षमा, कैसी क्षमा, किससे क्षमा ? मैं जो हूँ वही हूँ ।"[2] सेल्मा मर चुकी है। योके अपने चारो तरफ—सर्वत्र मृत्यु-गध को महसूसती है तथा उस गध को पास आने से रोकने का प्रयास करती है, किन्तु 'एकाएक योके को लगा कि वह गध और कही से नहीं आ रही है, उसी मे है—उसी की देह मे से आ रही है ।"[3]

अन्ततोगत्वा, योके का सतीत्व जर्मनो द्वारा भग किया जाता है और वह वेश्या बना दी जाती है। ऐसी स्थिति मे, मानसिक रूप से वह विक्षिप्त हो जाती है और जीवन-जगत सबसे, यहाँ तक कि अपने-आपसे भी घृणा करने लगती है। जीवन की अन्तिम घडियों मे एक भारतीय पुरुष—जगन्नाथन् के पास पहुँच कर अपनी मनोव्यथा सुनाते हुए, वह जहर खाकर मृत्यु का वरण कर लेती है। अब वह योके से मरियम बन गई है। जगन्नाथन् के पूछने पर वह कहती है 'मेरा नाम मरियम। ईसा की माँ का नाम मरियम। चुनी हुई माँ। जो कभी मर नही सकती—जर्मनो की वेश्या। उससे पहले मेरा नाम योके था।'[4]

उपन्यास मे जगन्नाथन् का अवतरण और प्रवेश एकदम नाटकीय ढग से हुआ है। वह व्यक्ति के रूप मे एक प्रतीक है। वह प्रतीक है—आस्था का।

1 'अपने अपने अजनबी', तीसरा सस्करण, पृ० 50
2 वही, पृ० 98-99
3 वही, पृ० 96
4 वही, (तीसरा सस्करण) पृ० 110

स्वय उपन्यासकार अज्ञेय ने इस सम्बन्ध मे लिखा है : "जगन्नाथन् नाम है, चाहे जिस भाषा मे अनुवाद कर लीजिए। प्रतीक वह भार का नहीं है, आस्था का है—आस्था मे ही पूर्व और पश्चिम की दृष्टि मिल है।"[1]

अज्ञेय के पहले उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' मे 'व्यक्ति-स्वातन्त्र अन्वेषित करने का प्रयास किया गया है। 'नदी के द्वीप' मे वही बोध अ पन, अलगाव और अजनबीपन आदि के रूप मे व्यञ्जित होता है। और अपने अजनबी' उपन्यास तो सम्पूर्ण रूप से अजनबीपन के उसी बोध को करने वाला एक दस्तावेज बन गया है। इस ससार मे सब कुछ—वस व्यक्ति अजनबी-से लगते है। किन्तु सबसे बढकर अजनबी है—'मृत्यु का स कार।' वस्तुत मृत्यु-बोध ही सम्पूर्ण उपन्यास की सवेदना के रूप मे स होता है। दूसरे शब्दों मे यूँ भी कह सकते है कि उपन्यास की अन्विति मृ की धूमिल छाया से ग्रस्त है। 'मृत्यु बोध' की इस सवेदना को उपन्यासका ने अस्तित्ववादी दर्शन के परिपेक्ष्य मे विन्यस्त करने का श्लाघनीय प्रयास है। शेखर एक जीवनी' के 'व्यक्ति स्वातन्त्र्य' का विकास 'नदी के द्वीप' मे न्तिकता, अलगाव और अजनबीपन मे होता है और उसकी परिणति होत 'अपने-अपने अजनबी' मे वरण स्वातन्त्र्य के रूप मे। इस कथन की पुष्टि अज्ञेय की इन पक्तियो से आसानी से हो जाती है, जहाँ ('हिन्दी साहित्य एक निक परिदृश्य', पृ० 130 पर) वे लिखते हैं "व्यक्ति के वरण स्वातन्त्र्य अह् की परितुष्टि खोजने के अधिकार की विशद चर्चा पर एक उपन्यास (अपने-अपने अजनबी') मे की गई है। यहाँ भी सिद्धान्त यही है कि दुर्दम द अह् के लिए वरण का एक ही मार्ग खुला हो सकता है—मृत्यु के वरण यही उसका अन्तिम दावा हो सकता है। अह् की परितुष्टि का अधिकार समझा गया है, पर यह भी स्पष्ट हो गया है कि वह अनिवार्यतया स्वघाति हो सकती है। यह स्पष्ट नही कहा गया, पर लेखक के उद्देश्य मे निहित है कि पश्चिम की दृष्टि ऐसी ही दृष्टि है।"

योके के मन मे न तो ईश्वर के प्रति कोई विश्वास है और न मृत्यु ही। ईश्वर और मृत्यु—दोनो को ही वह भ्रम मानती है। केवल अपने अ और अपनी स्वतन्त्रता को ही वह सर्वस्व मानने की आदी है। अत. योके धारणा के सम्बन्ध मे सेल्मा कहती है . "तुम जो अपने को स्वतन्त्र मान वहीं सब कठिनाइयो की जड है। न तो हम अकेले हैं, न हम स्वतन्त्र हैं।

1 अपने-अपने अजनबी लेखक की दृष्टि मे, 'ज्ञानोदय, जुलाई, 63, पृ० 20

अकेले नहीं हैं और हो नहीं सकते, इसलिए स्वतन्त्र नहीं हैं, और इसीलिए चुनने या फैसला करने का अधिकार हमारा नहीं है।" उसकी दृष्टि में—'कहीं (भी) वरण की स्वतन्त्रता नहीं है। हम अपने बन्धु का वरण नहीं कर सकते—और अपने अजनबी का भी नहीं··· हम इतने स्वतन्त्र नहीं हैं कि अपना अजनबी भी चुन सकें अजनबी, अनपहचाना डर · क्या हम इतने भी स्वतन्त्र नहीं हैं कि अजनबी में पहचान कर लें ?"[1] इस प्रकार, उपन्यास के केन्द्रीय भाव के रूप में 'मृत्यु-बोध' की अभिव्यक्ति और स्थापना की गई है। दूसरे शब्दों में यूँ कहें कि अजनबी-मृत्यु की परछाईं से उपन्यास की मूल संवेदना आवृत्त है। मृत्यु की आशंका व्यथा और करुणा-जन्य होती है। इसकी भयातुर आशंका से मानव-मन में कई प्रकार के बदलाव आते हैं, विचारों और भावनाओं में उतार-चढ़ाव होते हैं और साथ ही मानवीय सम्बन्धों में भी कई प्रकार के परिवर्तन सभाव्य होते हैं—तथाकथित आत्मीय जन अजनबी हो जाते हैं और अनजाने—अनपहचाने अजनबी भी अपने बन जाते हैं। सेल्मा और योके—दोनों की ही नियति की परिणति कुछ उसी रूप में होती है। वरण-स्वातन्त्र्य मनुष्य के लिए अत्यन्त सुखद होता है, किन्तु सबसे बड़ी दुखान्तकी ('ट्रैजडी') भी यही है कि मानव उसे प्राप्त नहीं कर पाता। योके सेल्मा से कहती है, "आण्टी, आपको क्या मेरा यहाँ रहना कष्टकर लगा ? अगर वैसा है तो मुझे दुख है, पर मेरी लाचारी है। यह तो मैं कह नहीं सकती कि मैं अभी चली जाती हूँ। वह मेरे बस का होना ।' सेल्मा (बुढ़िया) ने उसके उत्तर में सहसा गम्भीर होकर कहा—'कुछ भी किसी के बस का नहीं है, योके। एक ही बात हमारे बस की है—इस बात को पहचान लेना। इससे आगे हम कुछ नहीं जानते।'[2]

इसी भाव की पुनरावृत्ति वह आगे भी करती है "स्वतन्त्रता—कौन स्वतन्त्र है ? कौन चुन सकता है कि वह कैसे रहेगा, या नहीं रहेगा ? मैं क्या स्वतन्त्र हूँ कि बीमार न रहूँ—या कि बीमार हूँ तो क्या इतनी भी स्वतन्त्र हूँ कि मर जाऊँ ? मैंने चाहा था कि अन्तिम दिनों में कोई मेरे पास न हो। लेकिन वह भी क्या मैं चुन सकी ? तुम क्या समझती हो कि इससे मुझे तकलीफ नहीं होती कि जो मैं अपनों को भी नहीं दिखाना चाहती थी उसे देखने के लिए—भगवान् ने एक—एक अजनबी भेज दिया ?'[3] सेल्मा का अन्तिम निष्कर्ष भी यही है कि 'वरण की स्वतन्त्रता कहीं नहीं है, हम कुछ भी स्वेच्छा से नहीं चुनते हैं। ईश्वर

1 अपने-अपने अजनबी, पृ० 101
2 वही, पृ० 26
3 वही, पृ० 43

भी शायद स्वेच्छाचारी नही है— उसे भी सृष्टि करनी ही है, क्योकि उन्माद से बचने के लिए सृजन अनिवार्य है, वह सृष्टि नही करेगा तो पागल हो जाएगा।"[1] योके की स्थिति भी सेल्मा से कोई भिन्न नही है। कैंसर की बीमारी से ग्रस्त— सेल्मा के साथ स्वेच्छा से वह कब्रनुमा बर्फीले घर मे रहने नही आती, लेकिन नियति उसे आकर रहने के लिए मजबूर करती है, अन्यथा वह क्य और क्यो चाहती कि कब्र मे कैद होकर कैंसर की मरीज के साथ रहे और उसकी सेवाएँ ग्रहण करे 'और न बीमार आदमी से सेवा लेकर स्वस्थ आदमी अपने को स्वतन्त्र महसूस कर सकता है।' कुलमिलाकर इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि जीवन मे वैकल्पिक वरण अथवा चयन-स्वातन्त्र्य कहीं नहीं है। मृत्यु जीवन का सबसे बडा और अन्तिम सत्य है। इसके आगे या पीछे कुछ नही है, कुछ नही होता, शायद ईश्वर भी नही। मृत्यु के अस्तित्व म ही वस्तुत. ईश्वर को समाहित किया गया है अर्थात् ईश्वर की सत्ता मृत्यु से कोई अलग नही है।

'अपने-अपने अजनबी' उपन्यास कम, दर्शन का अवान्तर विश्लेषण अधिक है। इसमे न तो कथा का व्यास विन्यास है और न औपन्यासिक तत्त्वो का विस्तार-सघटन। इस उपन्यास के माध्यम से वस्तुत. अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन का प्रस्तुतीकरण किया गया है। स्वभावत इसकी औपन्यासिकता दर्शन के गूढ विचारो और प्रत्ययो से बोझिल मालूम पड़ती है। यह बोझ, अन्तत पाठक के मन पर ही पडता है, जिससे इसके सहज आस्वादन मे प्राय एक प्रकार के (रसात्मक) व्यवधान की प्रतीति होती है। लेकिन अज्ञेय के दीक्षित और कॉन्शस पाठक के लिए यह कोई नयी बात नही लगती। इसलिए उनके रस-बोध मे कहीं-कोई विशेष कठिनाई नही मालूम होती। दूसरी बात यह है कि इसमे नियोजित मनोवैज्ञानिकता दर्शन की गूढ चेतना को सवेद्य बनाती है, जिससे चिन्तन का अतिरिक्त बोझ हल्का हो जाता है।

अस्तित्ववाद ईश्वर,[2] आस्था, करुणा तथा नैतिकता आदि को नही मानता, क्योकि मृत्यु चरम सत्य है। अस्तित्ववाद अस्तित्व (Existence or being-ness) को ही सब कुछ मानता है। लेकिन अस्तित्व भी अधूरा और अपूर्ण है। मनुष्य जहाँ अपने अह के अस्तित्व को स्वीकार करता है, वहाँ भी वह असहाय

1 अपने-अपने अजनबी, पृ० 100

2. 'He (Jean Paul Sartre) rejects the hidden Kierkegaar-dian God'

—Iris Murdoch . 'Sartre' Introduction, Page 7

और अक्षम ही होता है। सार्त्र के मतानुसार—'Men are powerless only when they admit they are.'[1] मनुष्य के पास न तो वरण का विकल्प होता है और न ही स्वातन्त्र्य। सार्त्र ने अपने उपन्यास 'Nausea' तथा 'In Camera' में इसी 'कथ्य' को प्रतिपादित किया है। 'Nausea' का नायक एक ऐसा मानव है, जो संसार से कुचले और ह्रास किये जाने के बावजूद अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष का सामना नहीं कर पाता। वह अपनी डायरी में अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में लिखता है: "I am in the midst of things, which cannot be given names Alone, wordless, defenceless, they surround me... ...They demand nothing, they don't impose themselves, they are there." उसी सन्दर्भ में वह अपने-आपको देखता हुआ कहता है: 'To exist is simply to be there.' सार्त्र की एक दूसरी कृति 'In Camera' के पात्र भी अपने वैकल्पिक वरण-स्वातन्त्र्य के प्रति अत्यल्प सजग हैं। 'In Camera' के कुछ ऐसे व्यक्तियों की कल्पना की गई है, जो लोग एक कमरे में कैद कर दिये जाते हैं, और वे समझते हैं कि सभी कैद किये गए लोग मर चुके हैं। किन्तु, कालान्तर में उनके इस भ्रम का निवारण होता है कि वे लोग मरे नहीं हैं। दर-असल, यह 'कमरा' 'नरक' का प्रतीक है, जिसमें लोग साथ रहना नहीं चाहते, किन्तु बरबस उन्हें रहना पड़ता है। यह संसार भी एक प्रकार का नरक है, जिसमें नहीं चाहने के बावजूद हम अपने अजनबी लोगों के साथ रह लेते हैं। यही विवशता की सशक्त प्रक्रिया है। सेलमा और योके के साथ भी यही बात लागू होती है। इच्छा के विरुद्ध उन दोनों को परस्पर रहने की बाध्यता है, और यही उनकी सबसे बड़ी यातना है, जिसे नियति का परिणाम समझ कर उन्हें झेलना पड़ता है।

अस्तित्ववाद काल (समय) को शाश्वत सत्य न मानकर केवल क्षण का ही विश्वासी है। दूसरे शब्दों में इसे क्षणवादी दर्शन भी कह सकते हैं। उसके लिए क्षण ही सत्य है, सब कुछ है। क्षण इतिहास से परे है, वह केवल अनुभव है, जो इतिहास अथवा भूत-भविष्य की सीमा के बंधन को स्वीकार नहीं करता। योके के इस परिकथन में अस्तित्ववाद के इसी सिद्धान्त की स्थापना हुई है, जहाँ वह कहती है: 'समय मात्र अनुभव है, इतिहास है। क्षण वही है, जिसमें अनुभव तो है, लेकिन जिसका इतिहास नहीं है, जिसका भूत-भविष्य कुछ नहीं है, जो शुद्ध वर्तमान है, इतिहास से परे, स्मृति के संसर्ग से अदूषित, संसार से मुक्त। अगर

1. Jean Paul Sartre: 'What is Literature', Introduction, Page xii

ऐसा नहीं है, तो यह क्षण नहीं है, क्योंकि वह-काल-खंड कितना ही छोटा क्यों न हो, उसमें मेरा जीना कालसापेक्ष जीना है। वह बिन्दु नहीं है, रेखा है : रेखा परम्परा है और क्षण परम्परामुक्त होना चाहिए।" (पृ० 21)

इस प्रकार, ऊपर के इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'अपने-अपने अजनबी' में उपन्यासकार अज्ञेय ने अस्तित्ववादी दर्शन के परिप्रेक्ष्य में जीवन का संश्लेषण विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इसमें औपन्यासिक ऋजुता कम, वैचारिक, मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक प्रत्यय अधिक हैं। अज्ञेय ने इस कृति के माध्यम से आधुनिकता की चुनौती को संवेदना और भावना के बजाय चिन्तन और दर्शन के स्तर पर स्वीकार किया है। ●●

3

अज्ञेय के उपन्यास

मनोवैज्ञानिक संचेतना

जेय मूलत मानव-मन के आभ्यन्तर के कथा-शिल्पी हैं। अत इनके
न्यासो म अतिरिक्त आदर्श की इयत्ता की अस्वीकृति और यथार्थ का अधि-
ाधिक आग्रह मिलता है। इनका उद्देश्य उपन्यासो मे न तो घटनाओ के बाहुल्य
ा निर्माण करना है, न बाह्य क्रिया-कलापो का विवरण प्रस्तुत करना, अपितु
व्यक्ति चरित्र की अन्तश्चेतना के उद्घाटन और निरूपण को ही वे सार्थक
मानते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि सदैव इनकी 'रुचि व्यक्ति मे रही
है।'[1] इनका कहना है कि 'कहानीकार (कथाकार) के रूप मे 'अज्ञेय' की दृष्टि
मुख्यतया व्यक्ति चरित्र की ओर रही है।'[2] स्पष्ट है कि बाह्य घटनाओ के बजाय
वे व्यक्ति की आभ्यन्तरिकता पर अधिक बल और अवधान देते हैं। कथा मे
'ज्यो ही मानवीय तत्त्व का समावेश होता है, मनोवैज्ञानिकता आ जाती है।'[3]
बहरहाल इन तथ्यो के विवेचन से इतनी बात साफ हो जाती है कि अज्ञेय की
औपन्यासिक प्रवृत्ति खासा मनोविज्ञानपरक है। दूसरे शब्दो मे यूँ कहे कि
अज्ञेय के उपन्यास मनोवैज्ञानिक सचेतना से सचारित और सम्पृक्त हैं।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहने का अभिप्राय वैसे उपन्यासो से है, जो मूलत-
मनोविश्लेषण पर आधृत हो। डॉ० देवराज उपाध्याय ने ऐसे उपन्यासो के
लक्षण को परिभाषित करते हुए लिखा है "मनोविज्ञान का अर्थ, जहाँ तक
उपन्यास-कला का प्रश्न है, अनुभूति का विषयीगत तथा आत्मनिष्ठ रूप
(Subjective aspect of experience) है। यदि किसी उपन्यास मे घटना
या अनुभूति के आत्मनिष्ठ रूप की अभिव्यक्ति पाएगे तो हम उसे मनोवैज्ञानिक
उपन्यास कहेंगे।"[4] उन्ही के दूसरे शब्दो मे यूँ कह सकते हैं कि 'पात्रो के भावो

1 अज्ञेय 'आत्मनेपद' (प्रथम सस्करण) पृ० 71
2 अज्ञेय हिन्दी-साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य पृ० 107
3 'कहानीकार जैनेन्द्र अभिज्ञान और उपलब्धि', पृ० 38
4 डॉ० देवराज उपाध्याय आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य और मनोविज्ञान (प्रथम सस्करण), पृ० 14

के उत्थान-पतन को तथा मानसिक प्रक्रिया को विस्तृत रूप से पाठकों के सामने रखना, यही उपन्यास में मनोवैज्ञानिकता कहलाती है।"[1]

अज्ञेय के उपन्यास वस्तुनिष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ या व्यापक अर्थ में व्यष्टिनिष्ठ हैं। उनमें घटनाओं का जोर न होकर, संश्लिष्ट अनुभूति और भावना के सम्प्रेषण का प्राधान्य है। उनमें (सामाजिक) जीवन की लम्बाई, चौड़ाई या व्यापकता उतनी नहीं मिलती, जितनी व्यक्ति-चरित्र की अन्तश्चेतना की गहराई मिलती है। साहित्यिक विधाओं में 'गहराई' तत्त्व का आकलन जहाँ रचनात्मक स्तर पर किया जाता है, वहाँ या तो दर्शन की छिटक मिलती है अथवा मनोविज्ञान का प्रत्यक्षीकरण होता है। अज्ञेय की औपन्यासिक कृतियाँ मनोविज्ञान-सम्मत होने के साथ ही-साथ दार्शनिक चेतना से भी सम्पन्न हैं। इसका अभिप्राय यह कतई नहीं है कि अज्ञेय ने मनोविज्ञान और दर्शन के आलोक में अपनी औपन्यासिक रचनाओं का सृजन किया है। वस्तुत उनकी साहित्यिकता के भीतर से ही मनोविज्ञान और दर्शन व्युत्पन्न होता हुआ दिखाई पड़ता है। रचना में मनोविज्ञान या दर्शन जब अतिरिक्त अथवा अलग रूप में स्वीकृत किया जाता है तो इसका मानी है कि रचनाकार आरोपित मूल्यों को स्वीकार करता है। अज्ञेय अपनी रचनाओं में सर्वत्र और सदैव आरोपित मूल्यों को नकार कर, आधुनिकता की चुनौती को स्वीकार करते हैं।

अज्ञेय के उपन्यासों की मनोवैज्ञानिकता के सम्बन्ध में प्राय सभी आलोचक एकमत हैं। स्वय विचारक-आलोचक अज्ञेय भी इस तथ्य से सहमत हैं। आधुनिक उपन्यास-साहित्य में मनोवैज्ञानिक अथवा मनोविश्लेषणात्मक प्रभाव को वे बार-बार विधेयात्मक तौर पर स्वीकार करते हैं। उदाहरण के तौर उनकी कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं 'नये वैज्ञानिक अनुसंधान और ज्ञान ने उपन्यासकार की दृष्टि बदल दी। उसका लिखना ही बदल गया क्योंकि उसकी दृष्टि बदल गयी। उसके बाद एक और बहुत बड़ा परिवर्तन फ्राइड के साथ आया। उसकी मनोविश्लेषण-पद्धति ने व्यक्ति मानस और व्यक्ति-चेतना की गहनताओं पर नया और तीखा प्रकाश डाला। इससे उपन्यासकार को व्यक्ति-मानस को समझने में बड़ी सहायता मिली, बल्कि एक नयी दृष्टि और पैठ मिली, जिसके सहारे वह विशेष व्यक्ति के मन के भीतर होने वाले संघर्ष को पहचान सका। चेतना प्रवाह ('स्ट्रीम ऑफ कॉन्शसनेस') अथवा स्वगत-भाषण (इंटर्नल

1 डॉ॰ देवराज उपाध्याय आधुनिक हिन्दी-कथा साहित्य और मनोविज्ञान (प्रथम संस्करण) पृ॰ 14

मोनोलॉग') के उपन्यास इस दृष्टि के परिणाम है। और आधुनिक उपन्यास मे मानसिक संघर्ष का विश्लेषण विशिष्ट महत्व रखता है।"[1]

आज के उपन्यासकार के लिए बाह्य परिस्थिति और घटना उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना व्यक्ति-मन का अन्तर्संघर्ष, क्योकि मानस स्वय ही एक परिस्थिति हो गया है—तनावपूर्ण परिस्थिति। अज्ञेय के शब्दो मे—"बाह्य परिस्थिति से सघर्ष—मानव और नियति का सघर्ष—इतना महत्त्वपूर्ण न रहा, क्योकि व्यक्ति-मानस स्वयं सदैव एक तनाव की स्थिति में रहता है और वह तनाव ही संघर्ष है। व्यक्ति-मानस बनाम परिस्थिति, इस विरोध का कोई अर्थ नही रहा, क्योकि मानस स्वयं ही एक परिस्थिति हो गया है। इसी प्रकार बाह्य घटना का इतना महत्त्व नही रहा, क्योकि जिस प्रकार सघर्ष भीतर-ही-भीतर उभरता और निर्वापित होता रहता है, उसी प्रकार भीतर-ही-भीतर घटना भी घटित होती रहती है और रह सकती है।"[2]

ऊपर के इन उद्धरणो से स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञेय का पूरा-का-पूरा जोर व्यक्ति के मन.सत्य और अन्तर्संघर्ष पर है। मनोविज्ञान का सम्बन्ध मानव-मन से है अर्थात् मानव-मन का अध्ययन करने वाला शास्त्र या विज्ञान मनोविज्ञान कहलाता है। मनोविज्ञान का क्षेत्र मानव के मानसिक कार्य-व्यापार तक व्याप्त है। मानव-मन को तीन भागो मे विभक्त किया गया है : चेतन (Conscious), उपचेतन अथवा अवचेतन (Pre or Sub-Conscious) तथा अचेतन मन (Unconscious mind)। आधुनिक मनोविज्ञान सामान्य मनुष्य का ही नही, प्रत्युत् असामान्य मनुष्य की मानसिक क्रियाओ की असामान्यता का भी अध्ययन प्रस्तुत करता है। सिगमण्ड फ्रायड को आधुनिक मनोविज्ञान का पिता कहकर अभिहित किया जाता है। उसका मनोविश्लेषणवाद अत्यधिक विकसित और विश्वास्य है। उसने मनुष्य की कल्पना से लेकर सपनो तक का विश्लेषण प्रस्तुत किया है, साथ ही विक्षिप्त मन का अध्ययन भी उसने बडी बारीकी से किया है। अज्ञेय ने अपनी औपन्यासिक [illegible]

1 अज्ञेय : हिन्दी-साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य, पृ० 82-83
2 अज्ञेय : हिन्दी-साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, पृ० 83
3. इस सन्दर्भ मे सी०ई०एम० जोड (C. E. M. Joad) ने एक स्थल पर लिखा है : 'Novelist should seek to record the inner life of thought and feelings.'

फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद का भरपूर उपयोग किया है। फिर भी, इनके उपन्यासों में फ्रायडीय मनोविश्लेषणवाद कहीं भी पैवन्द या जोड़ की तरह नहीं लगता। वस्तुत अज्ञेय एक ऐसे विरल कलाकार हैं, जो मनोविज्ञान को, साहित्य के रस में घोलकर एक प्रकार के रसायन के रूप में प्रस्तुत करते चलते हैं। यही कारण है कि इनके उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक तीव्रता का, स्वभावत, आत्यन्तिक बोध होता है।

अज्ञेय पर फ्रायड, एडलर और युग के मनोविज्ञान का सम्मिलित प्रभाव लक्षित होता है। किन्तु य प्रभाव कहीं भी आरोपित, ओढ़े हुये या अतिरिक्त जोड़ की तरह नहीं लगते, अपितु मानसिक संवेदना के रूप में एकाकार होकर सम्प्रेषित होते हैं। इसलिए डॉ॰ नगेन्द्र का यह अभिमत सर्वथा सही और युक्ति-संगत प्रतीत होता है कि 'अज्ञेय जैसे एक-आध कलाकार द्वारा फ्रायड कुछ व्यवस्थित ढंग से हिन्दी में आए।'[1]

फ्रायड ने लिबिडो' (Libido) अथवा 'काम-भावना' को मानव-प्रकृति के मूल प्रेरणा-स्रोत के रूप में गृहीत किया है। मनुष्य की प्रवृत्तियाँ, अधिकांशतया इसी लिबिडो' या 'काम-भावना' की विकृत अथवा परिष्कृत क्रिया-प्रतिक्रियाओं की प्रतिरूप मात्र होती है। फ्रायड के अनुसार चेतन मन से अधिक महत्वपूर्ण होता है—अवचेतन और अचेतन मन। अवचेतन और अचेतन मन की अतल गहराई में ही मनुष्य का रहस्य अवस्थित होता है। इसलिए चारित्रिक विश्लेषण के लिए अवचेतन मन की परतों को अनावृत करके देखना-परखना आवश्यक सा होता है।

फ्रायड के दो शिष्यों—एडलर और युग ने इसके सिद्धान्त को संशोधित और परिवर्द्धित कर, अपने ढंग से नियमित किया। एडलर 'हीन-भावना' को मनुष्य, विशेषकर बच्चों की मूल प्रेरक शक्ति मानता है। शैशव काल में जिस अभाव के कारण व्यक्ति की इच्छा दमित होती है, उसकी क्षति पूर्ति करने के लिये वह सतत् प्रयत्नशील रहती है।

युग 'जीवनेच्छा' को मनुष्य की मूल प्रेरक शक्ति मानता है। मनुष्य अपने अस्तित्व और आत्म-प्रकाशन के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। साहित्य-सर्जन का स्थान उन प्रयत्नों में विशिष्ट है, क्योंकि साहित्य आत्माभिव्यक्ति का एक प्रमुख साधन है और आत्माभिव्यक्ति जीवनेच्छा का ही एक प्रतिरूप है। युग भी अवचेतन मन को स्वीकार करता है, किन्तु व्यक्तिगत अवचेतन के साथ ही साथ सामूहिक अवचेतन को भी वह स्वीकार करता है।

1 डॉ॰ नगेन्द्र विचार और विश्लेषण (प्रथम संस्करण), पृ॰ 63

इस प्रकार, फ्रायड, एडलर और युग—तीनो ने मन के इस विभाजन को स्वीकार किया है ... व्यक्तित्व)
...न अत्यन्त
...न मन मे।
वह अपनी
समस्त इच्छाओ की पूर्ति करना चाहता है। लेकिन ऐसा सम्भव नही हो पाता। जिन इच्छाओ की पूर्ति वास्तविक जगत अथवा चेतन मन मे नही हो पाती, वे ...

पूर्ति के लिए सचेष्ट रहती हैं। ध्यातव्य यह है कि ये दमित वासनाएँ व्यक्ति के अवचेतन मन मे अपने अनुकूल ग्रन्थियो (Complexes) का निर्माण करती हैं। ये ग्रन्थियाँ, वस्तुत बचपन से ही बनना प्रारम्भ हो जाती हैं। इसलिए बच्चो का जीवन, जो बाहर से देखने पर अत्यन्त सरल और सीधा सादा लगता है, अत्यधिक जटिल और उलझा हुआ होता है। यही कारण है कि असामान्य व्यक्ति के मानसिक अध्ययन के लिए उसके अवचेतन और अचेतन मन के गह्वर मे प्रक्षिप्त उसकी आदिम मनोग्रथियो का अध्ययन 'Case history' के द्वारा करते हैं। इसका मूल कारण यह है कि व्यक्ति अपने वयस्क काल मे अपने शैशव का ही विकसित रूप होता है। अत 'Case history' के द्वारा मूल ग्रन्थियो का ज्ञापन हो जाता है।

मानव मन की कुछ ऐसी भी प्रबल इच्छाएँ होती हैं, जिनकी पूर्ति, सामाजिक-नैतिक मान्यताओ के ... न अचेतन
... पुन अव-
...ी बल्कि
...मस्कार,
लोक-मर्यादा तथा सामाजिक रीति-नीति के कारण ये दमित अथवा अतृप्त वासनाएँ प्रत्यक्ष रूप से अपनी तृप्ति नही करती, बल्कि वेष-परिवर्तन अथवा छद्म रूप धारण कर के अपनी पूर्ति की सतत चेष्टा करती हैं। सपनो के माध्यम से मनुष्य ऐसी ही दमित वासनाओ की पूर्ति और तृप्ति करता है। इसे 'इच्छा-पूर्ति' का सिद्धान्त (Wish Fulfilment Theory) कहते हैं।

फ्रायड ने 'लिबिडो' शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ मे किया है। इसका व्याप्ति विस्तार मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन-तल है। फ्रायड के अनुसार शिशु आरम-

रति मे सुखानुभव की प्राप्ति करता है। बालकों का अगूठा चूसना भी एक प्रकार की आत्मरति ही है। फ्रायड ने 'ऑडिपस काम्पलेक्स' (पुत्र का माँ के प्रति आकर्षण) तथा 'इलेक्ट्रा कॉम्पलेक्स' (पुत्री का पिता के प्रति आकर्षण) की कल्पना की है। एकाधिकार की भावना भी बच्चे के मन मे प्रारम्भ से ही काम करती है। शिशु माँ का स्तन पकड़े रहना है, पिता या किसी के भी द्वारा उसके काम मे हस्तक्षेप करने पर रोने की क्रिया द्वारा वह विरोध का भाव प्रदर्शित और व्यक्त करता है। फ्रायड ने साहित्यिक रचनाओ को विश्लेषित करते हुए, उनके मूल मे भी रचनाकार की दमित वासनाओं के अस्तित्व को ही स्वीकार किया है। ये दमित वासनाएँ कल्पना तथा प्रतीक आदि कई छद्म रूपों मे आत्म-प्रकाशन करती हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि व्यक्ति के चेतन मन की तुलना मे अवचेतन और अचेतन मन अधिक महत्त्वपूर्ण है। अत व्यक्तित्व का निर्धारण भी अवचेतन-अचेतन स्तर पर ही अधिक संगतिपूर्ण और विज्ञान-सम्मत होता और हो सकता है, क्योकि अवचेतन-अचेतन व्यक्तित्व अत्यन्त जटिल, उलझा हुआ और असामान्य है।

फ्रायड, एडलर और युग के मनोविश्लेषणवाद ने आधुनिक साहित्य को बहुत हद तक प्रभावित किया। साहित्य के क्षेत्र मे इसका प्रभाव दुहरा पड़ा: सर्जन और विवेचन दोनो ही दृष्टियो से। सबसे बड़ी बात तो यह है कि मनो-

1 सहज बोध बनाम बुद्धि—मन के विरुद्ध 'रक्त' का सहारा।

2 काम सम्बन्धो के क्षेत्र मे—'सेक्स' की नयी परिभाषा, जो उसे न निरा शरीर-सम्बन्धी मानती है, न केवल सामाजिक बन्धन या व्रत बल्कि एक 'गतिशील सम्पृक्त भाव' (डायनैमिक कम्यूनिकेशन)।[2]

मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकार (विशेषत अज्ञेय) मानव-चरित्र का उद्घाटन वैयक्तिक स्तर पर करते हैं। चारित्रिक उद्घाटन के लिए वे व्यक्ति पात्रों

1 हिन्दी-साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य, पृ० 78 79

2 डी० एच० लॉरेन्स ने कहा है—'मैन मस्ट बी सुप्रीम, अदरवाइज रिलेशनशिप इज फिनियल, दैट इज, इट इज इनसेक्ट।'

के बाह्य कार्य-व्यापारों के मूल में, अवचेतन में दबी पड़ी मूल प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हैं। ऐसे उपन्यासकार जीवन में यौन-सम्बन्धों और यौन-भावों को ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। यही कारण है कि आत्म-संयम और आत्म-दमन के बजाय ये आत्म प्रकाशन अथवा आत्माभिव्यक्ति पर अपना सम्पूर्ण बल देते हैं। फ्रायड से बहुविध प्रभावित उपन्यासकार डी० एच० लॉरेन्स के विचार से—'भावनाओं के स्तम्भन और आत्म-संयम के द्वारा अन्त:प्रवृत्तियों की तुष्टि, जिसे समाज माँगता है, मानव-जाति के लिए अहितकर है।" अज्ञेय पर फ्रायड के साथ ही साथ डी०एच० लॉरेन्स का भी सीधा प्रभाव लक्षित होता है। यही कारण है कि वे अपने समर्थन में लॉरेन्स को अक्सर उद्धृत करते चलते हैं।

अज्ञेय ने अपनी तीनों ही औपन्यासिक कृतियों—'शेखर : एक जीवनी' (दो भाग), 'नदी के द्वीप' और 'अपने-अपने अजनबी' में मनोवैज्ञानिक सचेतना का प्रयोग, किसी-न किसी रूप में अवश्य किया है। 'शेखर : एक जीवनी' के प्रथम भाग में कथा-नायक शेखर के शैशव तथा उसकी किशोरावस्था का मनोविश्लेषण प्रस्तुत किया गया है तथा दूसरे भाग में वयस्क शेखर के मानसिक संघर्ष तथा जाड्य-बोध को उभारा गया है। इसमें शेखर के जीवन निर्मायक तत्त्वों तथा उसके विकास के विविध परिदृश्यों का ही अंकन अधिक है।

वस्तुत: मनुष्य अपने शैशव का ही विकसित रूप होता है। बचपन के निर्मित संस्कार और भाव ही बाद में—प्रौढ़ावस्था में उसके जीवन का संचालन करते हैं। अत: फ्रायड तथा अन्य मनोविश्लेषणवादी चिन्तक शैशव-काल की प्रारम्भिक अवस्था के अध्ययन पर अधिकाधिक बल देते हैं। अज्ञेय की मान्यता भी इससे बिल्कुल अभिन्न है। वे कहते हैं 'शिशु शायद जिस समय एक आकारहीन मांसपिण्ड भर होता है, तभी से वह एक अमिट छाप ग्रहण करने लगता है, जो उसको उत्पन्न करने वाली तात्कालिक शक्तियों की ही नहीं होती, वरन् उससे पहले हुई असंख्य घटनाओं और बाद में होने वाले असंख्य परिवर्तनों की भी होती है। यह छाप पड़ जाती है और पड़ी रहती है, व्यक्त नहीं होती, हमारी चेतना में नहीं आती—तब तक जब तक कि किसी आकस्मिक प्रेरणा की चोट से, किसी न समझ आने वाले आघात से वह स्पष्ट होकर लहर की तरह हमारे जीवन में नहीं फैल जाती ...।"[1] इस प्रकार, अज्ञेय ने शिशु-मानस की महत्ता को बार-बार स्वीकार किया है। यही कारण है कि 'शेखर के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की अवस्था का चुनाव मनोविश्लेषणवादियों के मतानुसार ही

1 'शेखर : एक जीवनी', प्रथम भाग, पृष्ठ 48-49

(3 वर्ष) है, विशेषत Melamia Klein (मलामिया क्लेन) के, जिन्होंने Fritz (फ्रिट्ज) का अध्ययन किया था।"[1] अज्ञेय ने इस तथ्य की स्वीकृति इन शब्दो मे की है : 'जीवनी (शेखर : एक जीवनी)' के पहले भाग मे शेखर अपने बाल्यकाल की छोटी-छोटी घटनाओ की भी जाँच कर रहा है। बाल्यकाल का अध्ययन स्वय अपना महत्त्व रखता है, लेकिन 'जीवनी' मे यह अध्ययन साध्य नही है, केवल उन सूत्रो को खोजने का साधन है, जो होते हैं प्रत्येक जीवन मे, किन्तु जिन्हें देखने की शक्ति सदा नही होती—वह तो तब मिलती है जब किसी घटना की चोट से जीवन दीप्त हो उठता है, या तब जब यातना की तीव्रता से व्यक्ति ही सूक्ष्म द्रष्टा बन जाता है।"[2] स्पष्ट है कि उपन्यासकार ने मनोविज्ञान का प्रयोग पात्रो के चारित्रिक विश्लेषण के साधन के रूप मे किया है, न कि साध्य के रूप मे। दूसरी बात यह है कि शेखर (व्यक्ति-पात्र) के माध्यम से उन्होंने मनुष्य के सामान्य मनोविज्ञान का प्रस्तुतीकरण भी अवान्तर रूप से किया है।

शेखर की अवस्था ज्यो-ज्यो विकसित होती है, त्यो-त्यो उसकी बाल-सुलभ जिज्ञासा भी बढती जाती है। वह सामान्य बालको से बिल्कुल भिन्न है, जिनकी जिजीविषा आरोपित सत्या के कारण समाप्त हो जाती है। वह हर सत्य की गहराई मे बैठना चाहता है, जीवन के प्रश्नो का मानसिक मथन करना चाहता है तथा समस्याओ के अन्तरतम मे उतरना चाहता है, किन्तु यहीं भी उसे समाधान और निदान नही मिलता। फलस्वरूप, उसका मानसिक व्यक्तित्व अनेक प्रकार की ग्रन्थियों से जकड कर अत्यन्त जटिल रूप धारण कर लेता है। स्वभावत वय प्राप्त शेखर अत्यधिक जटिल प्रतीत होता है। उपन्यासकार अज्ञेय ने अत्यन्त बारीकी से उसकी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म सवेदनाओ को रेखांकित करने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से डॉ० देवराज उपाध्याय का यह अभिमत सर्वथा सही प्रतीत होता है कि —'अज्ञेय का शेखर हिन्दी का प्रथम उपन्यास है, जिसमे शिशु मानस को (फ्रायड के शब्दों मे Pleasure Principle), आनन्द-प्रधान [illegible] को तथा उसकी स्वा- [illegible] अथवा यो कहिए कि [illegible] सिक ग्रन्थियों को तथा

1 डॉ० देवराज उपाध्याय आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य और मनोविज्ञान, पृष्ठ 166-67

2 शेखर एक जीवनी, प्र० भा०, भूमिका, पृ० 8

उनके जीवन-व्यापी प्रभाव को कथा-क्षेत्र मे लाने का प्रयत्न किया है।'[1]

शेखर स्वातन्त्र्य-चेतना के प्रति अत्यन्त जागरूक है। 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' तो अपने आप मे आनन्दमूलक होता है। वह वर्जनाओ की, सामाजिक नैतिकता की तथा आरोपित सत्यो की अर्गलाओ को पार करना चाहता और करता भी है। अपनी जिज्ञासा तथा अतृप्त कामना का परिशमन वह किसी भी मूल्य पर करना चाहता है। इससे उसे सुख और तृप्ति की अनुभूति होती है और यही उसे काम्य है। वह अतिरिक्त 'नैतिकता' को बिल्कुल नही मानता।

शेखर ने अपने अनुभव के आधार पर यह सीखा और समझा है कि अहन्ता, भय और सेक्स—ये तीन महती प्रेरणाएँ हैं, जो प्रत्येक मानव के जीवन का अनुशासन करती हैं। वस्तुत यह 'समझ' शेखर की न होकर (उपन्यासकार) अज्ञेय की है। खैर, 'समझ' चाहे शेखर की हो या अज्ञेय की, उससे कोई फर्क नही पडता। किन्तु, है यह 'मनोविज्ञान' समर्थित ! उपन्यासकार की यह मान्यता सर्वथा मनोवैज्ञानिक प्रतीत होती है कि उपर्युक्त 'तीनो शक्तियो का इतना शीघ्र उद्भास जीवन की पहली पहली स्मृतियो मे उनका विद्यमान होना यह जताता है कि ये इतनी महत्त्वपूर्ण है कि मानव उन्हे अपनी मानवता के साथ ही पाता है, बाद की परिस्थिति या व्यवहार से नहीं।'[2] शेखर की ये प्रेरणाएँ नैसर्गिक और जन्मजात हैं। इन तीनो मूल प्रेरणाओ के परिप्रेक्ष्य म ही वह अपने जीवन की घटनाओं का प्रत्यक्षीकरण और प्रत्याह्वान करता है। शेखर मूलत अहवादी है। यह अह भाव प्रारभ से ही उसके आभ्यन्तर जीवन का स्वभाव और अग बन चुका है। बचपन मे तीन वर्ष की अवस्था मे वह लेटर-बॉक्स पर सवार है, मानो जैसे कोई सम्राट अपने विजयी घोडे पर बैठकर ससार को ललकार रहा हो। वह ससार मे एक लेटर-बॉक्स की ऊँचाई भर बडा होकर दुनियाँ वालो की क्षुद्रता पर हँसता तथा दूसरो का मजाक उडाता है। डाकिए के मना करने पर, प्रतिशोध के तौर पर वह उस डाकिए का पाँव कुचलते हुए भाग जाता है तथा अपने आपमे विजयोल्लास का अनुभव करता है। इन्ही सब क्रिया-कलापो के माध्यम से वह अपने अह या उन्मद भाव की साधना करता है।

अह के बाद तब उसका साक्षात्कार भय से वहाँ होता है, जहाँ अजायबघर मे फिरने के क्रम म नकली बाघ को देखकर भाग खडा होता है फिर, 'वह डर

1 डॉ० देवराज उपाध्याय—आधुनिक हिन्दी-कथा साहित्य और मनोविज्ञान, पृ० 162

2 शेखर एक जीवनी—प्रथम भाग, सस्करण 1966, पृ० 49

उस समय दब गया, किन्तु उसने शिशु के मन मे घर कर लिया। उस दिन के बाद उसे भयकर स्वप्न आने लगे, रात को वह चीख-चीख उठता। और कभी जागकर यदि पाता कि कमरे मे अधेरा है, तब तो वह अधकार एक नही, असख्य बाघो से सजीव हो उठता, एक-से-एक खूखार ।' कालान्तर मे उसने अपने अनुभव से जाना कि 'डर डरने से होता है। ससार की सब भयानक वस्तुएँ हैं, केवल एक घास-फूस से भरा निर्जीव चाम, जिससे डरना मूर्खता है।[1] इस आधार पर अब उसका ऐसा दृढ विश्वास बन गया कि 'जब कभी कोई भयानक वस्तु देखो, तब डरो मत, उसका बाह्य चाम काट डालो, उसके भीतर भरी हुई घास-फूस निकालकर बिखरा दो।' उसकी इस निश्चित धारणा ने उसे पूर्णत विद्रोही और साहसी बना दिया है।

तीसरी स्मृति व प्रवृत्ति—उसमे अन्तर्निहित 'यौन-भाव' (सेक्स) से सम्बद्ध है। सिगमण्ड फ्रायड के यौन तथा आनन्दवादी सिद्धान्त (Libido—sex—Pleasure Principle) के अनुरूप ही उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। सम्पूर्ण जीवन मे यौन भाव किसी न किसी रूप मे व्याप्त अवश्य है। इसी भाव से सम्बद्ध एव उदभूत समस्याओ तथा मनोभावनाओ का सश्लेषण-विश्लेषण अज्ञेय ने अपने उपन्यास, विशेषकर शेखर एक जीवनी' म किया है। शेखर जहाँ-कही भी किसी वर्जित अथवा निषेधात्मक दृश्य को देखता है, तत्क्षण उसका मन यौन भाव (सेक्स) से आन्दोलित हो उठता है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य, विशेषकर बच्चे निषिद्ध अथवा वर्जनाओ क प्रति अधिकाधिक मात्रा मे जिज्ञासु व प्रवृत्त होते हैं। जिस मात्रा मे निषेध अथवा वर्जनाएँ होती हैं, उसी अनुपात म बच्चे के मन मे उस रहस्य की गहराई को अनावृत्त करने की तीव्र उत्कण्ठा भी जाग्रत होती है। शेखर पर यह मनोवैज्ञानिक सिद्धात शत-प्रतिशत लागू होता है। मध्यम वर्गीय परिवारो की भाँति इसके (शेखर क) परिवार म भी यौन-सम्बन्धो की चर्चा निषिद्ध है। अत उसका यौन-भाव कुठित होकर 'ग्रथि' का रूप धारण कर लेता है। फिर बाद मे चलकर वह अपनी इस यौनगत कुण्ठा का साक्षात्कार करता है, जो उसकी जीवन-यात्रा का एक अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण आयाम है। इसके पूर्व भी कई बार कहा जा चुका है कि शेखर घोर अहवादी है। वस्तुत उसका यौन भाव भी उसके अह-भाव का रूप लेकर व्यक्त होता है। एक ओर वह अपने सम्पर्क मे आने वाले समस्त पुरुषो से सम्मान की आकाक्षा करता है तो दूसरी ओर स्त्रियो से प्रणय का आदान चाहता है—प्रदान नही। उसकी मान्यता है . 'मुझे मूर्ति उतनी नही चाहिए, मुझे मूर्ति पूजक

1 शेखर एक जीवनी—प्र० भाग, पृ० 51 52

चाहिए। मुझे कोई ऐसा उतना नही चाहिए, जिसकी ओर मैं देखूं, मुझे वह चाहिए जो मेरी ओर देखे। यह नही कि मुझे आदर्श पुरुष नही चाहिए पर उन्हें मैं स्वय बना सकता हूँ। मुझे चाहिए आदर्श का उपासक, क्योंकि वह मैं नहीं बना सकता। अपने लिए ईश्वर-रचना मेरे बस मे है लेकिन मेरी ईश्वरता का पुजारी—वह नही (शेखर एक जीवनी, प्र० भा०, पृ० 144)। जिस किसी से भी उसका स्नेह अथवा प्रणय-सम्बन्ध स्थापित होता है, उस पर शेखर सपूर्ण रूप से अपना आधिपत्य या कहें, एकाधिकार चाहता है। एकाधिकार अथवा एकाधिपत्य की उसकी यह प्रवृत्ति भी मनोविज्ञान-समर्थित है।

शेखर के यौन भाव (Sex) का विकास तीन बिन्दुओं पर दिखाई पडता है : आत्मरति, समलिंगी रति तथा विपरीत लिंगीरति। उसमे आत्मरति मुख्य रूप से वहाँ दिखाई पडती है, जहाँ भीतर से उसका 'आत्म' पक्ष प्रबल होकर लोगो को अपनी ओर आकृष्ट कर अपनी पूजा करवाना चाहता है। उसकी समलिंगी रति जाग्रत होती है—अपने मे एक वर्ष बडे सहपाठी मित्र कुमार के प्रति। कुमार से वह कहता है—"कुमार, बताओ, तुम मुझे अपने से बडे क्यो नही लगते ? मुझे क्यो लगता है कि तुम छोटे हो, और मैं जैसे तुम्हारा सरक्षक, तुम्हारा गार्डियन (दैवीरक्षक) हू, और तुम मुझ पर निर्भर करते हो ?"[1] बाद मे शेखर उस पर एकाधिपत्य स्थापित करना चाहता है जिसकी परिणति होती है—शारीरिक हाव-भाव, अग चेष्टा या चुम्बन आदि मे। वह कहता है : 'कुमार, यदि तुम मेरे अतिरिक्त और किसी के हुए, तो मैं तुम्हारा गला घोट दूंगा। (इतना ही नही) शेखर ने कुमार को अपनी ओर खीचकर उसका मुँह चूम लिया। लेकिन साथ ही उसके मन म एक शका हुई—स्वर म यह भय क्यो ? और उसे यह भी लगा, कि जो कुछ उसकी ओर से है, दूसरी ओर से वह नहीं है, जैसे झील मे उसका प्रतिबिम्बमात्र, जिसमे कम्पन है, लेकिन कम्पन जीवन का नही, माया का।'[2]

शेखर के हृदय मे विपरीत लिंगीरति के भावो का उद्रेक उन समस्त नारियो के सन्दर्भ म होता है, जो कोई उसके सम्पर्क मे आती है। यह सब उसके भावो का अतिरेक या व्यभिचार न होकर उसकी 'सहज बुद्धि' और 'सहज विकास' का स्वाभाविक परिणाम है। यही कारण है कि उसकी मौसेरी बहन—शशि सुन्दर, उन्मद तथा उसके व्यक्तित्व की पूरक प्रतीत होती है।

1 'शेखर एक जीवनी', प्रथम भाग, सस्करण 1966, पृ० 201-202
2 वही, पृ० 203

अज्ञेय ने शेखर मे क्राति अथवा विद्रोह के उपकरण के रूप मे 'विराट्-व्यापक प्रेम की सामर्थ्य' तथा 'एक तटस्थ सात्विक घृणा की क्षमता'[1] को विशेष उपादेय और सक्रिय माना है। लेखक का यह विचार सर्वथा मनोविज्ञान-सम्मत है

[illegible]

कि वह सब कुछ खोकर भी ससार को ललकारे और वासना ने उसे जगाया कि वह चोट का सामना करे, जो उसके हृदय को लगी है।'[3]

शेखर के व्यक्तित्व का विकास प्रेम, घृणा और वासना (जिसे अज्ञेय ने 'मन के विरुद्ध रक्त का सहारा' कहा है) —तीन बिन्दुओ पर होता हुआ दिखाई पडता है। प्रेम, घृणा और वासना की यह भावना क्रमश उसके पिता, उसकी माँ तथा सरस्वती, शारदा, शान्ति और सबसे बढकर शशि आदि के सन्दर्भ मे अधिक स्पष्टता से व्यक्त होती है। शेखर के मन मे अपनी माँ के प्रति घृणा का भाव अत्यन्त सघन है। इसका मूल कारण यह है कि उसे अपनी माँ की ओर से अपेक्षित स्नेह न मिलकर बार-बार डाँट-फटकार और अविश्वास का प्रस्ताव ही मिलता रहा है। जो स्नेह उसे मिलता है, वह औसत कोटि का है, किन्तु उसकी आकाक्षा सदैव विशिष्ट स्नेह-पात्र बने रहने की है। स्नेह-वैशिष्ट्य के अभाव के कारण उसका मन माँ के प्रति विमुख और विद्रोही हो जाता है। फलत चेतन-अवचेतन रूप से वह अपनी माँ को आदर-भाव नही प्रदान कर पाता। उसके विचार मे 'पिता आवेश म आततायी और माँ आवेश की कमी के कारण निर्दय है। पिता की क्रोध-वर्षा के बावजूद वह सखा-भाव का अनुबोधन करता है किन्तु माँ जब कुछ नही कहती थी तब उसे लगता था कि वह मीठी आँच पर पकाया जा रहा है।'[4] पिटने को तो अनेक बार वह (अपनी माँ के साथ-ही-साथ) अपने पिता से भी पिटता है। इसके बावजूद वह उन्हें 'पूजता' है जबकि बार-बार वह अपनी माँ के प्रति विद्रोह-भाव व्यक्त करता है। इन कारणो का स्पष्टीकरण लेखक ने इन शब्दो म किया है "माँ की ओर आकर्षित पुत्र और पिता की ओर आकर्षित कन्या साधारणता

1 'शेखर एक जीवनी', प्रथम भाग, सस्करण 1966, पृ० 29
2 वही, पृ० 31
3 वही, पृ० 181
4 वही, पृ० 121

की ओर, सामान्यता की ओर जाते हैं, और पिता की ओर आकृष्ट पुत्र, माता की ओर आकृष्ट कन्या असाधारण होते हैं। पहली श्रेणी मे मिलेंगे सीधेसादे शात आदमी, सामान्य स्त्रियाँ, जिनमे कोई खास बुराई नही है, जो साधारणतया प्रसन्न और सन्तुष्ट हैं, जो जीते हैं, रहते है और मर जाते हैं, दूसरी मे मिलेंगे प्रतिभावान लेखक और कवि, देश और ससार को बदल देने वाले सुधारक, क्रातिकारी, डाकू, जुआरी, पतित-से-पतित मानवता के प्रेत अच्छे या बुरे, उनके लिए साधारणता नहीं है, वे सुलग नही सकते, फट ही सकते हैं···। शेखर साधारण नहीं था। और वह अपने पिता का उपासक था।"[1] वस्तुत. यही वह मूल भाव है, जिसके आधार पर शेखर के व्यक्तित्व का विकास होता है।

प्रेम और वासना—जीवन के दो ऐसे निर्णायक तत्त्व हैं, जो व्यक्ति के विकास म सहायक सिद्ध होते हैं। वस्तुत जीवन-यात्रा के वे ही पाथेय हैं, जिसका जीवन-पर्यन्त प्रयोग शेखर करता है। प्रारभ मे उसका प्रेम घोर वैयक्तिक है किन्तु बाद मे वह प्रेम नैतिक समस्या का रूप ले लेता है। विचारक कथाकार अज्ञेय नय मूल्यो के सन्दर्भ में 'सेक्स' की नयी परिभाषा गढते हैं। वे न तो इसे निरा शरीर-सम्बन्धी मानते है और न केवल सामाजिक बधन या व्रत, बल्कि एक 'गतिशील सम्पृक्त भाव' ('डाइनैमिक कम्यूनिकेशन') के रूप मे ग्रहण करते हैं।

प्रेम और वासना मे आत्यन्तिक नैकट्य होता है। फ्रायड के Pleasure Principle के अनुसार, बिना वासना (सेक्स) के प्रेम का अस्तित्व निराधार और निरर्थक है। प्रत्येक प्रेम मे किसी-न-किसी रूप मे वासना का अश और अस्तित्व [illegible] प्रेम की सज्ञा से अभिहित [illegible] अपितु इसी का उदात्त [illegible] दर्भ मे यह सिद्धान्त शत-प्रतिशत सही प्रतीत होता है।

विद्रोही दीखने वाला शेखर वासना अथवा यौन-भावना (सेक्स) की ओर अतिशय ढग से प्रवृत्त है। विद्रोही होना उसकी जीवन-प्रणाली है, जो उसकी अतृप्त यौन-भावना की तृप्ति व पूर्ति मे सहायक होती है। जहाँ-कही उसकी काम-भावना बाधित होती है, वहाँ स्वभावत: और सहज रूप से वह विद्रोह कर उठता है। किन्तु ध्यानस्थ यह है कि और चाहे जिस किसी के विरुद्ध वह विद्रोह करे न, किन्तु अपने सम्पर्क मे आने वाली तमाम नारियाँ—चाहे वह सरस्वती

1 शेखर एक जीवनी, प्रथम भाग, सस्करण 1966, पृ० 123-24

हो या शशि, शारदा हो अथवा शान्ति, सबके प्रति वह घोर मैत्रीपूर्ण आचरण करता है। उसकी सगी बहन सरस्वती उसके लिए पहले सरस्वती' से 'बहन' और फिर 'बहन' से 'सरस' बन जाती है। शेखर के मन मे सरस्वती के प्रति जो ऐक्य-भाव है, वह अत्यन्त उन्मद और तीव्र है। 'शेखर को लगता था कि जिस प्रकार जो वांछित है, प्रिय है और समझने और सहानुभूति करने वाला है, उसका पुन्जीभूत रूप सरस्वती है।'[1] शेखर के मन मे सरस्वती के प्रति अनुभूति की तीखी ऐन्द्रिकता का प्रवेश है, प्रत्यक्ष नही तो परोक्ष ही सही। एक दिन शेखर ने अपने दोना हाथा से बडे जोर से उसका (सरस्वती का) हाथ पकडकर अपनी आँखो पर दबा लिया।'[2]—इससे उसे सुख की अनुभूति हुई, जो वास्तव म उसकी यौन-भावना (सेक्स) की ही परोक्ष और अवान्तर रूप से सतृप्ति है। शेखर जहाँ शारदा की आँखें मूँदकर उसके सूखे केशो को सूँघता है, वहाँ भी प्रकारान्तर स उसकी दमित यौन-भावना' की ही तुष्टि होती है। शान्ति के कण्ठ क स्पर्शमात्र से वह सन्तुष्ट हो जाता है। शेखर क जीवन को सर्वाधिक प्रभावित करने वाली है—शशि। वस्तुत वही वह विशिष्ट केन्द्र बिन्दु है जिसक चहुँ ओर शेखर का व्यक्तित्व अधिष्ठित व परिचालित होता है। इस तथ्य की स्वीकृति वह इन शब्दो मे करता है 'मेरा होना अनिवार्य रूप से तुम्हारे (शशि के) होने को लेकर है।' शशि रमेश की परिणीता पत्नी है और शेखर की प्रेयसी। रिश्ते म वह शेखर [illegible] त प्यार शेखर के लिए [illegible] ' घर बार छोडा, पति [illegible] खातिर उसने स्वय का विसर्जन किया। 'शशि, तुम क्या हो ?—शेखर के इस प्रश्न के उत्तर मे वह कहती हैं " मैं विवाहिता हू। अपना आप मैंने स्वेच्छा से दिया है, अपने का, इह का सकल्प कर दिया है—आहुति दे दी है। जो दे दिया है, मेरा नही है, उसकी ओर से मैं कुछ नही कह सकती, न कुछ स्वीकार ही कर सकती हूँ न प्रतिवाद कर सकती हूँ, और– न कुछ दे सकती हूँ। अपने को मिटा देने मे मैंने कजूसी नही की—खुले हाथ से दिया –होम कर दिया, और देख लिया कि सब जल गया है—धूल हो गया है। पर, तुममे मेरा वह जीवन है, जो मैं हूँ।—जो मेरा मैं है शेखर, तुम मुझे बहिन माँ, भाई, बेटा, कुछ मत समझो, क्योंकि मैं—अब कुछ नही हूँ। एक छाया हूँ—और अमूर्त्त' होकर मैं तुम्हारा अपना आप हूँ जिसे तुम नाम नही दोगे।"[3] शशि और शेखर के इस पारस्परिक प्रेम सम्बन्ध को

1 शेखर एक जीवनी, प्रथम भाग पृ० 143

2 वही, पृ० 147

3 शेखर एक जीवनी भाग दो पृष्ठ 166

'इन्सेस्ट बैरियर'[1] के नाम से अभिहित किया जा सकता है। इन्सेस्ट बैरियर' के कारण वासना का शमन ऊपर से दिखाई देता है किन्तु वह अचेतन में पहुँच जाती है और चेतन म वे दोनो भाई-बहन बने रहते हैं—पवित्र रहते हैं, किन्तु अचेतन म उसकी वासना निरन्तर संघर्ष करती रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि दोनो मे से चैन किसी को नही मिलता। वह फ्रायड का मनोविश्लेपण सिद्धात[2] है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेम और वासना ही वह मूल संवेदना और प्रेरणा है, जो शेखर के व्यक्तित्व को आदोलित और परिचालित करती है। द्रष्टा शेखर का भी, भोक्ता शेखर के सम्बन्ध म यही अभिमत है कि 'यदि स्त्रियाँ न होती, तो शायद वह जी नही सकता।'[3] कुलमिलाकर, ऐसा लगता है कि उपन्यासकार अज्ञेय ने 'शेखर एक जीवनी' म शेखर के माध्यम से व्यक्ति के बाल मनोविज्ञान से लेकर सामान्य—असामान्य मनोविज्ञान तक को रूपायित करने का प्रयास किया है। पूरे उपन्यास मे मनोविज्ञानिकता कही भी आरोपित अथवा थोपी हुई नही लगती, बल्कि चारित्रिक विश्लेपण की चारता के भीतर से पारद रेखा की तरह परिदर्शित होती है।

सिगमण्ड फायड ने मानव के अवचेतन अचेतन मन के अध्ययन के क्रम म मानवी कल्पना, स्मृति तथा स्वप्न का भी विशद विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। फायडवादी कथाकार अज्ञेय ने भी शेखर एक जीवनी' मे

1 (क) अज्ञेय—हिन्दी-साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य पृष्ठ 79 (लॉरेन्स के उद्धरण का अन्तिम पद)
(ख) डॉ॰ मक्खनलाल शर्मा—हिन्दी उपन्यास सिद्धान्त और समीक्षा', पृष्ठ 169

2 'An incestuous love strikes repression, to emotional and the sexual components are separated, and the only emotional component persist in consciousness, owing to its apparent de-sexualization The original love is transferred to a new feminine object which resembles the former, but the link between sexual emotion and genital sexuality is not re established"

(Psycho analytical Method and the Doctrine of Freud Vol I Dalbez, P 134

3 शेखर एक जीवनी, प्रथम भाग सस्करण 1966 पृष्ठ 197

उनका (कल्पना, स्मृति और स्वप्न का) प्रामगिक नियोजन किया है। मनोविज्ञ निकों के अनुसार मनुष्य, विशेषकर बच्चे कल्पना के माध्यम से अपने अवचेतन व दमित इच्छाओ की पूर्ति के आनन्द का अनुभव करते हैं। कल्पना के सहारे बच अपने अभावो की मानसिक परितृप्ति करते हैं। बालकों की एक प्रवृत्ति होती कि निर्जीव पदार्थों को भी वे सजीव-रूप मे ग्रहण करते हैं। इसे मनोवैज्ञानि शब्दावली मे सर्वात्मवादी चिन्तन (Animistic Thinking) कहते हैं। शेख 'लेटर बॉक्स' पर घोडे की तरह सवार होता और उसके अनुकूल मजा लेता है कभी वह केले के पत्तो को नाव के रूप मे प्रयुक्त करता है। उसके अन्दर ये सर्भ क्रिया कलाप 'सर्वात्मवादी चिन्तन' के ही परिणाम हैं।

स्मृति का सम्बन्ध अतीत से होता है। कल्पना-जीवी व्यक्ति स्वभावत अतीत की स्मृतियो का प्रत्याह्वान (Recall) बार-बार करता और करन चाहता है। इससे उसे विशेष प्रकार के आनन्द-भाव की अनुभूति होती है। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि स्मृतियों के सहारे, व्यापक अर्थों मे वह अपनी यौन-भावना की सपूर्ति का प्रयत्न करता है। शेखर के साथ यह बात बहुत हद तक लागू होती है। उसके मन मे सरस्वती के प्रति यौन-भावनाओ का अकुर बिल्कुल प्रारभ से ही उपलब्ध होता है। सरस्वती के साथ उसके बीते हुए क्षण —रसामिक्त क्षण, तथा उसकी स्मृति म उभरने वाले चित्रो मे उसकी (शेखर की) ऐन्द्रिकता, विशेष स्पष्टता के साथ व्यक्त होती है, "चाँद एक कन्या है, और यह पृथ्वी का काला सौदर्य उसका आवरण। किन्तु चाँद इतना सुन्दर है कि इस आवरण को उसे ढक रखने का अधिकार नही है, इसीलिए चाँद ने उसे उतार फेंका और निरावरण होकर क्षितिज के ऊपर आ गया है। और वह सौन्दर्य बिखरकर उस परित्यक्त आवरण को भी कितना सुन्दर बनाये डालता है।" अवश्य ही उस दिन उसे इस बात का अप्रत्यक्ष ज्ञान हो गया था कि सौन्दर्य कितना नग्न और नग्नता कितनी सुन्दर है।'[1]

कल्पना कभी-कभार इतना वायवी और निराधार होती है कि उसका दिग्विस्तार 'दिवा-स्वप्न' (day-dream) तक हो जाता है। ऐसी स्थिति मे मनुष्य केवल निष्क्रिय कल्पनाओं का महल खडा करता है लेकिन ऐसा नही कहा जा सकता कि वैसी कल्पना या वैसे दिवा-स्वप्नो का कोई अर्थ नही होता। अर्थ अवश्य होता है, किन्तु व्यक्ति के अवचेतन मन क वे प्रतीक मात्र ही होते हैं। कभी-कभी तो ये दिवा स्वप्न अथवा एतादृश कल्पना जीवन-निर्माण और विकास

1 शेखर एक जीवनी, प्र० भा०, सस्करण 1966, पृ० 23

मे अत्यन्त सहायक भी सिद्ध होते हैं। शेखर अत्यधिक कल्पना-जीवी है। प्रसग. पटने (बिहार) का है। शेखर केले के तीन स्तम्भो के सहारे एक नाव बनाकर गगा के सतरण करने के क्रम मे कल्पना-रत है कि 'वह उस सुदूर देश मे जा रहा है, जहाँ गगा जाती है, जहाँ वह समुद्र मे मिल जाती है, जहाँ सूर्यास्त के सोने का टापू है और जहाँ इन्ही नीलिमा मे घुल जाने वाले बादलो से बने हुए सूत के वस्त्र पहनने वाली राजकन्या रहती है···शेखर उसके पास जाएगा, और उससे कहेगा, मैं शेखर हूँ, मैं बन्धनो के देश से आया हूँ, और वह उसे बिठा लेगी, और कहेगी, यहाँ तुम अबाध हो—उस सिरिस के फूलो क महल मे तुम रहोगे और जो चाहे करोगे··

पर शायद राजकन्या उसे नही देखेगी—वह बन्धनो के देश के मामूली लडके से क्यो मिलने लगी ?

वहाँ और भी तो लोग होगे और भी कन्याएँ होगी, उस बाधाहीनता के देश मे कोई भी क्यो राजकन्या मे कम होगी ?

शेखर ने आँखें बन्द कर ली ·।[1]

अगर उसकी इस दिवा-स्वप्निल कल्पना का विश्लेषण करें तो स्पष्ट हो जाएगा कि वह बन्धनो से निकल कर मुक्ति का आकांक्षी और अन्वेषी है। उसका अभिप्राय यह नही कि वह पलायनवादी है। वस्तुत वह विद्रोही है—परम्परा के प्रति, सामाजिक जडता के प्रति और सबसे बढकर मन के विरोधी भावो और बन्धनो के प्रति। अत समग्र रूप से वह स्वातन्त्र्य चेतना का अन्वेषी और प्रयोक्ता ठहरता है।

शेखर आगे भी ऐसी ही कल्पनाओ मे निरत है। "वह सोचा करता है कि क्यो नही कोई ऐसी घटना होती, जिससे वह टापू कही निकट आ जाए। जब वह सैर करने जाता है, तब इतनी गाडियाँ उसके पास से होकर जाती हैं, क्यो नही किसी मे से वह राजकन्या झाँककर कहती, "शेखर, चलो मेरे टापू मे, जहाँ बाधा नहीं है ?" राजकन्या न सही, जब वह मैदान मे घूम रहा होता है, तब वहाँ इतनी लडकियाँ खेल रही होती हैं, क्यों नही उनमे ही कोई छिपी हुई टापू-वासिनी आकर उसे बुलाती, 'आओ, तुम हमारे अबाध खेल मे शामिल होओ ?' इतना भी न सही, क्यो नही जब वह राह चलता ठोकर खाता है तब कोई इसी ससार की लडकी उसके पास आकर स्नेह से कहती, 'आओ शेखर, मैं और कुछ

नहीं कर सकती, पर तुम्हारे इस एक-रस जीवन में कुछ नयापन ला सकती हूँ।' या सिर्फ इतना ही उससे पूछती, 'चोट बहुत तो नहीं लग गयी ?'[1]

स्पष्ट है कि शेखर के अवचेतन मे जो दमित वासना और मसृण स्नेह की अतृप्त आकांक्षा है, उन्ही की परितृप्ति वह अपनी दिवा-स्वप्निल कल्पनाओ के माध्यम से करता और करना चाहता है। उसके जीवन मे ऐसी कल्पना का उद्रेक शृखलित रूप मे होता रहता है। इस कथन की पुष्टि लेखक की इन पक्तियो से हो जाती है 'वह छिपकर सुन्दर कागज पर रग बिरगी फूल-पत्तियाँ बनाता और उनसे घिरे हुए स्थान मे पत्र लिखता। किसे ! वह स्वय नही जानता। लेकिन अपने हृदय की सारी भूख वह उस पत्र मे भर देता और उस अज्ञात के स्वागत की सारी विह्वलता वह लिखता, 'ओ कल्पित, ओ अज्ञात, जिसे मैं मन मे भी नही देख पाता, तुम इस पत्र को पढोगी और समझोगी ? मैं शेखर हूँ, मैं अकेला हूँ, मैं जाने कब से तुम्हें ढूँढ रहा हूँ, तुम्हारी ही प्रतीक्षा मे हूँ, तुम्हारे ही लिए हूँ। तुम दिव्य-लोक मे हो लेकिन क्या दिव्य लोक भी तुम्हें उसी तरह माँगता है जिस तरह मैं ? ओ अज्ञेय, ओ अकल्पनीय'[2] उसके इस दिवा-स्वप्न से यह बात पूरी तरह साफ हो जाती है कि शेखर का अवचेतन मन दमित यौन भाव से ग्रस्त है और बार-बार वह स्नेह के किसी कमनीय आश्रय की आकाक्षा मे तल्लीन रहता है।

फ्रायड के मतानुसार स्वप्न—निशा-स्वप्न सार्थक और साभिप्राय होते हैं। मनुष्य की जो इच्छाएँ चेतन मन मे तृप्त नही हो पातीं, वे ही दमित और कुण्ठित होकर अवचेतन मे छद्म रूप धारण कर स्वप्नो के माध्यम से व्यक्त और तृप्त होती हैं। इसीलिए प्रतीकों (*Symbol*) के रूप मे उनका विश्लेषण किया जाता है। फ्रायड ने स्वप्नो के विश्लेषण के लिए अनेकानेक प्रतीकार्थों का अन्वेषण और प्रयोग किया है। सपनो के माध्यम से व्यक्ति के व्यक्तित्व, उसकी मनोवृत्ति तथा विचार धारा को आसानी से समझा जा सकता है, क्योकि सपने एक तो कुठित मन के स्थानापन्न होते हैं। और दूसरे, मनोभावो के प्रतीकार्थ। उपन्यास-कार अज्ञेय ने दिवा-स्वप्न के अतिरिक्त निशा स्वप्न का भी आयोजन तथा उदघाटन इस उपन्यास म शेखर के आभ्यन्तर मन के चित्रण व विश्लेषण के क्रम मे किया है। इससे उसके व्यक्तित्व की अन्विति को समझने मे काफी सहूलियत होती है। उपन्यासकार ने शेखर के एक स्वप्न का उपस्थापन ('शेखर एक जीवनी प्र० भा०, पृष्ठ 139-140) यूँ किया है —

1 शेखर एक जीवनी प्रथम भाग पृष्ठ 110-111
2 वही सस्करण 966 पृ० 1.1

"रात को शेखर ने एक स्वप्न देखा।

एक विस्तीर्ण मरुस्थल। दुपहर की कडकडाती हुई धूप।

शेखर एक ऊँट पर सवार उस मरुस्थल को चीरता हुआ भागा जा रहा है, भागा जा रहा है · सवेरे से, या कि पिछली रात से, वह कैसे भागा जा रहा है।

और उसके पीछे कोई आ रहा है। शेखर को नही मालूम कि कौन, लेकिन वह जानता है कि कोई उसका पीछा कर रहा है, और कभी वह मुडकर देखता है, तो पीछे बहुत से ऊँटों के पैरो मे उडी धूल उसे दीखती है ··

तीसरा पहर। धूप कम नही हुई, और भी तीखी हो गई जान पडती है। और शेखर भागता जा रहा है, और पीछे वह 'कुछ' भी बढा आ रहा है।

एकाएक, सामने सेब के वृक्षो के बाग, जिसके चारो ओर मिट्टी की ऊँची बाड लगी हुई है, जिसमे कही कही बिले हैं, और कही-कही आयरिस जैसा कोई पौधा है। शेखर ऊँट पर से उतर कर, बाड पार करके बाग मे घुस जाता है।

बाग मे वृक्ष फूलो से लदे हुए हैं। इतने अधिक लदे हैं कि सारी जमीन पर भी फूल बिछे हैं, और वह बिलकुल शुभ्र हो रही है ··

शेखर थकी साँस लेकर एक पेड के नीचे फूलो की शैय्या पर लेटता है और सो जाता है ··

सन्ध्या। सारा आकाश आरक्त हो गया है। प्रतिबिम्बित लाली से भूमि भी लाल जान पड रही है, और सेब के वृक्ष मानो जगली गुलाब के हो गए हैं—प्रत्येक फूल ऐसा सुन्दर लालिम हो गया है···

शेखर उठ बैठा है। खतरे का आतक उस पर फिर छा गया है। वह जानता है कि उस 'कुछ' ने बाग घेर लिया, और उसमे प्रवेश करने की ताक मे है और उसके ऊंटो के पैरो से उडी धूल चारो ओर छायी हुई है, उससे सारा आकाश भरा जा रहा है ··

शेखर उठकर एक ओर को भागता है, बाग मे से निकल जाता है। रास्ता, चढाई। शेखर चढता जा रहा है। यह 'कुछ' पीछे रह गया है, लेकिन शेखर को बहुत आगे जाना है—बहुत आगे ··किसी खोज मे, यद्यपि वह नही जानता कि किस वस्तु की खोज ··

सन्ध्या घनी हो जाती है। शेखर अब भी चला जा रहा है। वह प्यासा है, पर पानी कही दीखता नही। हाँ, दूर कहीं जैसे झरने का रव हो रहा है ··

एक चट्टान के ऊपर चढ़कर शेखर आगे देखता है, और एकाएक रुक जाता है।

सामने, नीचे छहराता हुआ एक पहाड़ी झरना बह रहा है, शुभ्र, स्वच्छ, निर्मल ··

शेखर घुटने टेककर बैठता है, और हाथ टेककर उझककर सिर नीचे लटकाता है, जैसे वन्य पशु पानी पीने के लिए करते हैं। पर पानी बहुत नीचे है, और वह उस तक पहुँचता नही···

उसके हाथ पर सरस्वती का हाथ है। वह भी उसके पास उसी तरह घुटने टेके बैठी है, यद्यपि अभी तक वहाँ नही थी और दोनो प्यासी आँखो से पानी की ओर देख रहे हैं ··

शेखर देखता है, पानी के मध्य मे प्रवाह से किसी प्रकार भी प्रभावित न होता हुआ, पतले से नाल पर एक अकेला फूल खडा है। बहुत बडा—लिपटी टूई-सी एक ही बडी सफेद पत्ती, जिसके बीचोबीच मे एक तपे सोने-से वर्ण की एक डण्डी (Pistil) है।

और देखते-देखते एक दिन शान्ति उसके ऊपर छा जाती है और वह जानता है कि यही खोजने वह आया था, जिसके लिए वह भाग रहा था और वह शान्ति इतनी मधुर है कि शेखर को रोमाच हो आता है, वह दबाकर सरस्वती का हाथ पकड लेता है··

वह जाग पडा। **"स्वप्न इतना सजीव, इतना यथार्थ था कि शेखर ने हाथ बढाया कि सरस्वती का हाथ पकड़े। वह उसने नहीं पाया।"**

शेखर के उपर्युक्त इस स्वप्न का निहितार्थ अन्तिम पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है। शेखर के मन मे अपनी बहन सरस्वती (जो उसे अब 'सरस' लगने लगी है) के प्रति जो दमित काम वासना है, उसी की क्षति-पूर्ति वह स्वप्नो के माध्यम से करता और करना चाहता है। इस प्रकार उसके (शेखर के) व्यक्तित्व की अन्विति को समझने-बूझने मे स्वप्न-मनोविश्लेषण काफी सहायक सिद्ध होता है। अगर उसके सपनो का नियोजन या चित्रण उपन्यासकार नही करता तो स्यात् शेखर का आभ्यन्तर चरित्र इतना उजागर न हो पाता। स्वप्न-मनोभूमिका के कारण, एक ओर, उसके अतीत और वर्तमान का उद्घाटन व चित्रण हो सका है तो दूसरी ओर, उसका भविष्य सभाव्य बन पाया है।

इस प्रकार, ऊपर के इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यासकार ने 'शेखर : एक जीवनी' मे एकाधिक प्रसगो और स्थलो मे मनोवैज्ञानिक

विशेषतः, फ्रायडीय मान्यताओं का कथात्मक प्रयोग किया है। ये प्रयोग आरोपित न होकर सहजता के वाचक प्रतीत होते हैं।

अज्ञेय के दूसरे उपन्यास 'नदी के द्वीप' मे भी मनोवैज्ञानिक सचेतना अत्यधिक संश्लिष्ट और सक्रिय है। इसमे भी मूल रूप से फ्रायड के Pleasure Principle को ही औपन्यासिक अभिव्यक्ति मिली है। इसका एकमात्र कारण यह है कि यौन-भाव ('सेक्स') ही वह विशिष्ट केन्द्र-बिन्दु है, जिसके चतुर्दिक इसका कथानक आवर्तित होता है। दूसरे शब्दो मे यो कहा जा सकता है कि 'नदी के द्वीप' की मूल समस्या यौन-भावना ('सेक्स') है, जो फ्रायडीय मनोविज्ञान की प्रमुख मान्यताओ पर आधृत है। प्रथम उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' मे भी यौन-भावना की ही प्रधानता है, किन्तु वहाँ वह 'शेखर' के चरित्रगत् निर्माण तथा विकास की प्रेरक शक्ति के रूप मे प्रयुक्त है, जबकि 'नदी के द्वीप' मे विकसित एव वयस्क चरित्र की मनोवृत्ति के रूप मे इसका प्रयोग और विश्लेषण किया गया है, वह भी आधुनिक परिवेश के जटिल परिप्रेक्ष्य मे। दूसरी बात यह है कि 'शेखर एक जीवनी' की अपेक्षा इस दूसरे उपन्यास मे घटनाओ की शृंखला का चयन कम, पात्रो की मन स्थितियो का विश्लेषण और आकलन अधिक है। इस उपन्यास मे मुख्य पात्र हैं चार भुवन, रेखा, गौरा और चन्द्रमाधव। इसमे सबके-सब, किसी-न किसी रूप मे, यौन-भावना (सेक्स') से ग्रस्त और पीडित हैं। भुवन वैज्ञानिक होने के बावजूद अत्यन्त भावुक, सवेदनशील, अत कलात्मक प्रकृति और रुचि का व्यक्ति है। नारी के प्रति उसके मन मे अत्यधिक सहज दुर्बलता है। रेखा सुशिक्षित और सवेदनशील अधुनिका नारी है, जिसका अपने वैधानिक पति—हेमेन्द्र के साथ सम्बन्ध विच्छेद हो चुका है। आत्यन्तिक रूप से वह यौन-भावना से पीडित है। प्रारम्भ म वह भुवन के प्रति प्रवृत्त और समर्पित होती है, फिर बाद मे डॉ० रमेशचन्द्र के साथ अपना वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करती है। गौरा पहले भुवन की शिष्या और पुन आगे चलकर उसकी प्रेमिका की सज्ञा ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार, अतृप्त काम वासना अथवा भावना से उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व आहत है। ठीक ऐसी ही स्थिति चन्द्रमाधव की भी है। वह अपनी विवाहिता पत्नी से दुराव पालता है तथा रेखा और गौरा से अपनी अतृप्त वासना अथवा काम-भावना की परितुष्टि के लिए निरन्तर प्रयास करता है। अत इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस उपन्यास मे सर्वत्र यौन भाव (सेक्स) तथा उससे उदभूत रुग्ण कुण्ठाओं, जटिल सवेदनाओ तथा दर्द की आकुल अनुभूतिया एव मन स्थितियो को समग्रत विश्लेषित किया गया है। इसके लिए अज्ञेय को नये शिल्प की तलाश भी काफी करनी पडी है। यही कारण है कि प्रस्तुत औपन्यासिक कृति में उन्होने अपने 'कथ्य' को मनोवैज्ञानिकता से तराश कर नये शिल्पो के

सुनहरे आवरण मे प्रस्तुत किया है। अत विवेच्य उपन्यास के प्रायोगिक शिल्प का भी रग बिल्कुल अकेला और अलग है।

'अपने-अपने अजनबी' मे मनोविश्लेषणवाद का प्रयोग अत्यन्त सूक्ष्म रूप मे किया गया है। इसमें पात्रो अथवा चरित्रो के आभ्यन्तर मन का विश्लेषण अत्यन्त बारीकी से किया गया है। पात्रो की मन स्थितियो और उनके मानसिक तनावो के विश्लेषण के सहारे ही इसकी लघु कथा आगे की ओर रेंगती चलती है। सेल्मा के मन मे स्थित जीवन के प्रति एक सहज ऊब, निराशा, कुण्ठा और अवसाद के भावो को मनोविश्लेषित किया गया है और ठीक उसी के समानान्तर योके की हीन-भावना, कुण्ठा, सत्रास और मानसिक तनाव को भी सम्प्रेषित करने का प्रयास किया गया है। इस उपन्यास मे चरित्र-विश्लेषण के भीतर से मनोवैज्ञानिकता छलछला आती है, न कि मनोविज्ञान के शुष्क सिद्धान्तो क आलोक मे पात्रो का शील-निरूपण या उनका गढन किया गया है।

स्पष्ट है कि अज्ञेय ने अपने उपन्यासो मे कही भी मनोविज्ञान को आरोपित नही किया है, बल्कि चारित्रिक निर्माण की प्रक्रिया के सहारे मनोवैज्ञानिक उपपत्तिया स्वय उद्भूत होती चली हैं। इनके उपन्यासो का 'वस्तु'-तत्व, चूंकि मानवी भावनाओं, सवेदनाओं और तत्वो से सश्लिष्ट है, अत *कथन प्रणाली* (*शिल्प*) मे भी *मनोवैज्ञानिक प्रयोगशीलता स्वाभाविक तौर पर उभरकर प्रत्यक्ष होती है।* दूसरी बात यह है कि अज्ञेय ने *व्यक्ति* पात्रों का चयन, समाज से विशृखलित एक इकाई के रूप मे किया है। अत उनके सम्पूर्ण उपन्यास व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन के प्रस्तोता और व्यञ्जक बन गए हैं। यहाँ एक बात और भी विशेष रूप से कथनीय यह है कि इनके उपन्यासो मे मानव-मन की जिन मूलवृत्तिया (Instincts) का आकलन किया गया है, वे मूल प्रवृत्तियाँ एक व्यक्ति क होने के साथ ही हमारी—आपकी और सबकी होती है। अत ये व्यक्ति अलग-अलग इकाई होते हुए भी अपने आप मे समष्टि के वाचक होते हैं। यही कारण है कि अज्ञय व्यक्ति (-मन) की आन्तरिक सीढियो के सहारे समाज की गहराई मे पैठते हैं और फिर उसका सही-सही चित्र प्रस्तुत करते हैं। यही कारण है कि इनके उपन्यासो मे कुछ भी ऐसा नही है, जो मनोविज्ञान-समर्थित, अत सार्थक न हो। *इस प्रकार, इनके उपन्यासो की मनोवैज्ञानिक सचेतना अत्यधिक सशक्त, सश्लिष्ट, सक्रिय और सार्थक ठहरती है।* ●●

4

अज्ञेय के उपन्यास

शिल्प-संधान

अज्ञेय के समस्त उपन्यास प्रायोगिक अन्वेषण के सर्जनात्मक परिणाम हैं। इनके औपन्यासिक प्रयोग, भाव ('वस्तु') और शिल्प (उपस्थापन, शैली या विधि) दोनो ही दृष्टियो से परम्परा-मुक्त और सही अर्थों मे आधुनिक हैं। इनका औपन्यासिक कथ्य कथात्मक स्थूलता के विरुद्ध सूक्ष्म भाव-चेतना का विद्रोह है, अत सूक्ष्म भाव के निरूपण के लिए इन्होने तदनुरूप नये शिल्पो का सधान किया है। अत. इनका शिल्प 'वस्तु' के पूरक तथा इनकी भावात्मक चेतना, शिल्प की आधार रेखा के रूप मे प्रयुक्त हैं। वस्तुत अज्ञेय के औपन्यासिक शिल्प व्यग्य-विन्यास के रूप मे व्यस्त हैं। इनके उपन्यासों का प्रतिपाद्य मुख्यत व्यक्ति-चरित्र की बारीकियो का उद्‌घाटन और निरूपण करना है। स्वभावत इनकी उपस्थापनविधि म भी तदनुकूल सूक्ष्मता (और जटिलता) परिलक्षित होती है। इनके औपन्यासिक शिल्प-सधान के सम्बन्ध मे प्रायः सभी शीर्षस्थ-आलोचक एकमत हैं। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने ('हिन्दी नवलेखन', पृ० 101 पर) लिखा है : "'शेखर' ने हिन्दी-उपन्यास की सर्वथा नवीन सम्भावनाओ को छुआ। उपन्यास के भाव-बोध तथा शिल्प दोनो ही दृष्टियो से इस कृति ने पाठको तथा समीक्षको मे एक नई चेतना का सचरण किया है। समाज की विभिन्न भाव-भूमियों से सम्पर्कित शेखर का व्यक्तित्व तथा उसकी एकान्त वेदना मानो चेतन तथा अर्द्धचेतन मन के विकास का आख्यान है। एक ओर अज्ञेय ने सामान्यत अस्पृश्य माने जाने वाले कथा-सूत्रों को ग्रहण किया और दूसरी ओर उपन्यास के शिल्प को अत्यन्त उन्नत रूप दिया। इसके अतिरिक्त 'शेखर' की भाषा भी अपने-आप मे एक उपलब्धि है। भाषा का इतना परिष्कृत तथा अर्थ-प्रवण रूप हिन्दी मे इसके पूर्व शायद ही देखा गया हो।"

अज्ञेय एक ऐसे विशिष्ट कथाकार हैं, जिन्होंने हिन्दी-उपन्यास को आधुनिक सवेदनाओ से सस्पर्शित कर, नई चेतना और अर्थवत्ता से अनुप्राणित कर उसे विकास के राज- मार्ग तक पहुँचाने का प्रयास किया है। उसका कहना है कि 'आख्यान साहित्य को हमने आगे बढ़ाया है, लेकिन मुख्यतया शिल्प की दिशा में।'

एक ओर तो वे औपन्यासिक दृष्टिकोण के नयापन पर जोर देते हैं तथा उसे ही आधुनिक उपन्यास का प्रतिमान[1] तक घोषित करते हैं और दूसरी ओर शैलिक नव्यता के संधान पर अपना पूर्ण अवधान देते हैं। इसमें न तो कहीं कोई अस्वाभाविकता है और न ही कोई विरोधाभास, क्योंकि 'कथ्य' अथवा वस्तु के अनुकूल ही अभिव्यञ्जना की शैली या उपस्थापन-विधि भी विन्यस्त होती है। रचना का प्रतिपादन जहाँ परम्परा-मुक्त होगा, वहाँ उसकी प्रतिपादन-शैली में भी परिवर्तन अवश्यम्भावी है। राबर्ट लुइस स्टीवेन्सन (Robert Louis Stevenson) का, अतः यह कहना बिलकुल सही है कि 'प्रत्येक नये विषय के साथ सच्चा कलाकार अपनी कथन-प्रणाली को भी परिवर्तित करता रहेगा'—'with each new subject "the true artist will vary his method"' ठीक इससे मिलता-जुलता मत तोल्स्तोय का है। उसके मतानुसार, प्रत्येक महान कलाकार अनिवार्यतः अपने विधान या शिल्प (फॉर्म) का भी सर्जन करता है': 'Every great artist necessarily creates his own form also'

अज्ञेय के समस्त उपन्यास भाव, वस्तु या विषय और शिल्प—दोनों ही दृष्टियों से प्रायोगिक नव्यता से सम्पन्न हैं। बल्कि, सच तो यह है कि अत्याधुनिक हिन्दी-उपन्यास ने 'शेखर: एक जीवनी' के माध्यम से नये पथ का अन्वेषण किया है। इस प्रकार, अज्ञेय ने 'शेखर: एक जीवनी' के माध्यम से आधुनिक हिन्दी-उपन्यास के प्रायोगिक शिल्प का प्रवर्तन किया, जिसका अधिकाधिक विकास हुआ, उनके 'नदी के द्वीप' में। स्पष्ट है कि शैल्पिक प्रयोग का प्रवर्त्तन और उसके सौष्ठव का चरम विकास—दोनों ही अज्ञेय के क्रमिक उपन्यासों में निहित है।

शिल्प-विधान के समस्त उपकरणों के सन्दर्भ में इनके उपन्यासों का अध्ययन, औपन्यासिक तत्त्वों का विवेचन-विश्लेषण करना अधिक उचित होगा। कथानक, शील निरूपण, (चरित्र-चित्रण), कथोपकथन, वातावरण (परिवेश) और भाषा शैली आदि औपन्यासिक तत्त्वों के परिप्रेक्ष्य में अब अज्ञेय के उपन्यासों का हम क्रमिक अध्ययन करेंगे।

अज्ञेय के उपन्यासों का कथानक न तो (प्रेमचन्द-परम्परा के कथाकारों की भाँति) स्थूल होता है, न सीधा या सपाट ही। बल्कि सच तो यह है कि इनके कथानकों में एक विशेष प्रकार का आन्तरिक आवर्त्तन-प्रत्यावर्तन होता है। इनके कथानक जोड़ के आकार में लगते हैं किन्तु होते नहीं। इस दृष्टि से

1 हिन्दी-साहित्य: एक आधुनिक परिदृश्य, पृष्ठ 79

एक जीवनी' का नाम बड़ी आसानी से उद्धृत किया जा सकता है। आन्तरिक आवर्त्तन-प्रत्यावर्त्तन का सबसे बड़ा और मुख्य कारण यह है कि अपनी औपन्यासिक कथा-वस्तु में कहीं भी इन्होंने बाह्य क्रिया-कलाप को प्रश्रय नहीं दिया है, अपितु सदैव इनकी 'रुचि व्यक्ति में रही है।' अतः व्यक्ति मन के अवचेतन-अचेतन के परतों को अनावृत्त कर, खुर्दबीन (Microscope) से देखना और पुनः उसका सृजनात्मक बौद्धिक विश्लेषण करना उपन्यासकार अज्ञेय को अधिक प्रिय है। दूसरी बात, जो बिल्कुल साफ है, वह यह कि अभिधात्मक अर्थ में, उनके उपन्यासों में सपाट सामाजिकता की तलाश करना व्यर्थ है, क्योंकि व्यक्ति की अन्तश्चेतना की गहराई में प्रविष्ट करने वाली उनकी दृष्टि सूक्ष्म और पैनी है। यह उनकी प्रातिभ तीव्रता का प्रमाण है। इस दृष्टि से, उनके उपन्यासों से सीधे सामाजिकता की माग या अपेक्षा करना गलत होगा। स्वयं उनका कहना है कि 'उपन्यास अनिवार्यतया पूरे समाज का चित्र हो, यह माँग बिलकुल गलत है। उपन्यास की परिभाषा के बारे में यह भ्रान्ति साहित्य के सामाजिक तत्त्व को गलत समझने का परिणाम है। कह लीजिए, छिछली या विकृत प्रगतिवादिता का परिणाम है।"[1] स्पष्ट है कि इनका अभीष्ट अपने उपन्यासों में न तो सामाजिक कोलाहलों और हलचलों को प्रतिध्वनित करना है और न ही खासा सामाजिकता को आकलित करना ही। बल्कि स्थूल सामाजिकता के विपरीत, व्यक्ति मन की आन्तरिक गुत्थियों को उन्होंने केन्द्रीय विषय के रूप में गृहीत कर, विश्लेषित करने का उपक्रम किया है। अतः उनके उपन्यासों के कथानक व्यक्ति-मनोविश्लेषण पर आधृत है। इसका सबसे बड़ा कारण है चारित्रिक निरूपण की प्रधानता का होना। औपन्यासिक रचना में जब चारित्रिक निरूपण का प्राधान्य होता है, तब कथानक सीधा और सपाट न होकर जटिल और घुमावदार हो जाता है, क्योंकि मुख्य रूप से वह व्यष्टि-चरित्र के अन्तर्पक्ष से सम्बद्ध होता है और व्यष्टि के अन्तर्पक्ष में ऋजुता न होकर अधिकांशतया वक्रता और जटिलता ही होती है। यही कारण है कि अज्ञेय के सभी-के-सभी औपन्यासिक कथानक जटिल और व्यञ्जना-प्रधान हैं। दूसरी बात यह है कि इनके किसी भी उपन्यास में न तो सुनियोजित वस्तु-विधान मिलता है और न ट्रेडमार्क जैसी कोई एकरूपता अथवा एकतानता ही। 'शेखर : एक जीवनी' की कथावस्तु का आकार अपना अलग आकार-प्रकार और शैल्पिक रंग है तो 'नदी के द्वीप' का अलग और 'अपने-अपने अजनबी' का ढंग सबसे पृथक् स्थान रखता है। इसका मूल कारण यह है कि अज्ञेय ने किसी परम्परित लीक का अनुसरण न कर, व्यष्टि-मानस के टेढ़े-मेढ़े मेढ़ों पर चलकर अपने 'कथ्य' के लक्ष्य तक

1. अज्ञेय : आत्मनेपद, पृ० 86

पहुँचने का दु साध्य प्रयास किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इनके कथानको मे भी परम्परा-मुक्तता और प्रयोगशीलता के सश्लिष्ट तत्त्वो का ही आधिक्य और प्रामुख्य है। इस दृष्टि से भी वे आधुनिकता की चुनौती को स्वीकार करते दृष्टिगत होते हैं। वस्तुत. उनके औपन्यासिक वस्तु-विधान (कथानक) का विवेचन सही माने मे तब तक जायज नही होगा, जब तक एक एक कर क्रमश. उनके समस्त उपन्यासो का अध्ययन और विवेचन प्रस्तुत न किया जाय। इस दृष्टि से अब हम उनके उपन्यासो के कथानको का विवेचन क्रमश एक-एक कर करेंगे।

(1) शेखर : एक जीवनी

यह शेखर नामक एक व्यक्ति विशेष का जीवनी-मूलक उपन्यास है। इसका मतलब यह है कि व्यक्ति-नामक शेखर की जीवनी पर इस उपन्यास का कथानक आधृत है किन्तु ध्यातव्य यहाँ यह है कि 'जीवनी' मे मुख्यत अभिधामूलक इतिवृत्तात्मकता होती है, जबकि इस उपन्यास में 'वस्तु' की अभिधा न होकर व्यञ्जना की क्षिप्रता और प्रमुखता ही अधिक है। 'जीवनी' मे वास्तविक विवरणो की प्रधानता होनी है, किन्तु इस कृति मे वास्तविक विवरण की नही, व्यक्ति (मानव) मन के प्रत्ययो, भावो, अनुभूतियो और सवेदनाओ की कल्पना-प्रधान सश्लिष्ट अभिव्यञ्जना को बडे कौशल से विन्यस्त किया गया है। अत इसकी औपन्यासिकता सर्वथा सुरक्षित और स्वयसिद्ध है।

विवेच्य उपन्यास मे उपन्यासकार ने 'घनीभूत वेदना की केवल एक रात मे देखे हुए Vision शब्द बद्ध'[1] करने के क्रम मे एक विशिष्ट 'कलावस्तु गढने का यत्न किया है।'[2] दूसरा कथानक आठ भागों मे विभक्त है। प्रथम भाग मे 'ऊषा और ईश्वर', 'बीज और अकुर', 'प्रकृति और पुरुष' तथा 'पुरुष और परिस्थिति' शीर्षको मे कथा-वस्तु का आरम्भिक विन्यास किया गया है और (उपन्यास के) दूसरे भाग मे क्रमश 'पुरुष और परिस्थिति', 'बन्धन और जिज्ञासा', 'शशि और शेखर' एव 'धागे, रस्सियाँ, गुंझर' शीर्षको के अन्तर्गत उसको (पहले भाग की कथा वस्तु को) विकसित करने का उपक्रम किया गया है। तीन भागो मे प्रस्तावित यह उपन्यास अब तक दो भागो मे प्रकाशित है। पहले भाग मे कथानक का आयोजन और प्रारम्भिक विकास होता है तथा दूसरे भाग मे इसका वयस्क और प्रौढ रूप हमारे समक्ष प्रकट होता है। दूसरा भाग इस दृष्टि से पहले भाग का पूरक

1 शेखर एक जीवनी, प्रथम भाग, सस्करण 1966, पृ॰ 7

2 वही, पृ॰ 11

है। किंतु, अज्ञेय की प्रातिभ-चातुरी ने इसका उपस्थापन इस कौशल के साथ किया है कि एक-एक भाग का अपना स्वतन्त्र और अलग अस्तित्व भी सुरक्षित और पूर्ण है। इस प्रकार, परस्पर ये एक-दूसरे के अनुक्रम और आश्रित होने के बावजूद आत्म-निर्भर हैं। हिन्दी-उपन्यास-साहित्य मे इस प्रकार का सबसे पहला और सफल प्रयोग किया अज्ञेय ने। इस दृष्टि से 'शेखर: एक जीवनी' का वस्तु-विन्यास परम्परा से कटा हुआ, अतः प्रयोगशील प्रतीत होता है।

विवेच्य उपन्यास का कथानक सीधा और सपाट न होकर संश्लिष्ट और जटिल अधिक है। इसका सबसे बडा कारण यह है कि इसमे एकाधिक कथा सूत्रो को ग्रथित किया गया है, जिनका विकास स्वतन्त्र रूप में होता है। वे समस्त कथा-सूत्र समवेत रूप मे इसी मुख्य कथावस्तु को आगे बढाने मे सक्षम होते हैं। इसका अर्थ यह नही है कि इसके कथानक मे किसी प्रकार की गाँठ या जोड है। बल्कि सच्ची बात तो यह है कि इसके कथानक मे न तो किसी प्रकार का पूर्व-नियोजन है और न किसी प्रकार की संश्लेषण-चेष्टा, बल्कि चरित्र-विश्लेषण के प्राधान्य के कारण इसमे विश्लेषणो का संश्लेषण ही अधिक है। अत इस कथानक को 'विश्लेषणो के संश्लेषणमूलक' कथानक की संज्ञा से अभिहित कर सकते हैं। इसके सारे-के-सारे विश्लेषण औपन्यासिक नायक शेखर के चरित्र को उजागर करने वाले हैं, यहाँ तक कि बाह्य घटनाएँ भी उसके आन्तरिक पक्ष का ही उद्-घाटन करती हैं। इसलिए कुल मिलाकर इसका नाम हम 'चरित्रमूलक कथानक' भी दे सकते हैं।

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक फाँसी के लिए प्रतीक्षारत-शेखर की मन.स्थिति पर आधृत है। सम्पूर्ण कथा का आयोजन और विन्यास उसी के जीवन-चरित के विश्लेषण के लिए किया गया है। सारे-के-सारे कार्य-व्यापार उसी के चरित्र के विकास व विश्लेषण के लिए सहायक सिद्ध होते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस उपन्यास के कथानक मे न तो किसी प्रकार की ठोस स्थूलता है और न किसी प्रकार की किस्सागोई, बल्कि वस्तु स्थिति बिल्कुल इससे भिन्न है। अज्ञेय का अभीष्ट कथा को रब्बर की तरह बढाकर विन्यस्त करना नही है, अपितु अपने 'कथ्य' का प्रतिपादन और व्यक्ति-चरित्र का विश्लेषण प्रस्तुत करना भर है। यह प्रवृत्ति मात्र उनकी ही नही वरन् आधुनिकता से परिपूर्ण प्राय समस्त उपन्यासो की भी है। इसको विवेचित करते हुए उन्होने लिखा है: "आरम्भ मे वृत्तान्त मे एक नायक होता था, जिस पर या जिसके द्वारा घटनाएँ घटित होती थी। लेकिन उपन्यासकार यहाँ से निरन्तर बढता हुआ नायक के व्यक्तित्व और चरित्र को प्रधानता देता गया और अन्त में चरित्र-नायक व्यक्ति-प्रकार (टाइप) न होकर

कथानक सीधा या सपाट न होकर स्प्रिंग की तरह घुमावदार है, जिसमे कभी सकोचन होता है तो कभी प्रसार।

इस बात की कई बार आवृत्ति हो चुकी है कि 'शेखर : एक जीवनी' मे घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे हुए vision को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न'[1] किया गया है। शेखर अपनी 'जीवन-यात्रा के अन्तिम पड़ाव'—फाँसी की छाया मे अपने जीवन के अतीत का प्रत्यावलोकन अथवा प्रत्याह्वान करता है। ऐसी स्थिति मे उसके अपने विगत-जीवन के सारे-के-सारे प्रमुख चित्र उसके मानस-पटल पर उभर आते हैं। इन चित्रो को वह कोई कृत्रिम तारतम्य नही देता, बल्कि स्वाभाविक रूप में उन्हे अनुभूत करता है, वस्तुत उसकी अनुभूतियाँ गणित की समानांतर रेखा की तरह सीधी-सपाट या ऋजु न होकर 'ग्रैफिक' उतार-चढाव की तरह वक्रिम प्रतीत होती हैं। इसलिए परम्परित उपन्यासो की तरह इस उपन्यास के कथानक में आरम्भ, विकास और चरमबिन्दु की तलाश करना सर्वथा व्यर्थ होगा। औपन्यासिक कथानक जब आरम्भ, विकास और चरमबिन्दु की दिशा मे बढता चलता है, तब उसमे अभिधात्मक वर्णन की प्रधानता होती हैं, किन्तु 'शेखर' म अभिधात्मक वर्णन की जगह 'व्यंजना के सकेत' का आधिक्य मिलता है। साथ ही 'मानसिकता' प्रधान होने के कारण उपन्यासकार ने तत्र ('टेकनीक') के बतौर 'प्रत्यक् दर्शन प्रणाली' (फ्लैश-बैक स्टाइल) को अधिकाशतया गृहीत किया है।

'शेखर एक जीवनी' मे कथा की व्यापकता न होकर सश्लिष्टात्मकता और कसावट अधिक है। इससे इसके कथात्मक तत्त्व अथवा उपन्यासत्व पर किंचित् भी सदेह करना अनुचित होगा। मेरे इस कथन की पुष्टि शेखर के इस वाक्य से आसानी से हो जाती है, जहाँ वह कहता है "मुझे जान पडता है, मेरे जीवन की जो भी घटना मेरे सामने आती है वह मेरी है, मौलिक है, अपने मे सम्पूर्ण एक कहानी और मेरा सारा जीवन बढिया उपन्यास।"[2] यह बात और है कि उन घटनाओ मे तारतम्य का अभाव[3] है। वस्तुत. तारतम्य के इस अभाव में ही 'शेखर एक

1 'शेखर एक जीवनी' प्र० भाग, सस्करण 1966 पृ० 7

2 वही, पृ० 122

3 इस सम्बन्ध में शेखर का कहना ठीक ही है कि जैसे मोतियों की माला टूट गई हो, और बिखरे मोतियो को फिर एक बेतरतीब लडी म पिरो दिया जाय उसी तरह मेरी स्मृतियों की तरतीब उलझ सी गई है।"
—'शेखर एक जीवनी' प्र० भा०, पृ० 22

पुन इसी बात को वह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो के लहजे मे जैसे लपेट कर (क्रमश पेज 103)

जीवनी' सशक्त व अत्यधिक समर्थवान उपन्यास बन सका है, अन्यथा वह जीवनी-भर होकर ही स्यात् शेष रह जाता।

(2) नदी के द्वीप

'नदी के द्वीप' की कथावस्तु 'शेखर : एक जीवनी' की अपेक्षा अत्यधिक सुगठित और व्यापक है। 'शेखर . एक जीवनी' की भाँति इसमे भी चरित्र-विश्लेपण की सूक्ष्मता और चारुता ही परिलक्षित होती है। अत. इसे भी चरित्र-प्रधान उपन्यास की सज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। इसमे चार पात्रो—भुवन, रेखा, गौरा और चन्द्रमाधव का चारित्रिक विश्लेपण सवेदना के स्तर पर प्रस्तुत किया गया है। इन्ही पात्रो के आधार पर उपन्यास का कथानक ग्यारह खडो मे विभक्त है : भुवन, चन्द्रमाधव, गौरा, अन्तराल, रेखा, भुवन, चन्द्रमाधव, रेखा, अन्तराल, गौरा और उपसहार। इस औपन्यासिक कथानक के आरम्भ और अन्त दोनो मे ही उपन्यासकार अज्ञेय ने अत्यन्त कलात्मकता से काम लिया है। इसका आरम्भ प्राकृतिक श्रृंगार की नाटकीयता से किया गया है और अन्त भुवन के पत्र के माध्यम से सकेतित है। 'शेखर : एक जीवनी' की अपेक्षा इस उपन्यास के कथानक का दायरा अधिक व्यापक है। अत. डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी का यह कहना सही

कहना है "कहते हैं कि जिन घटनाओ का अनुभव बहुत तीव्र अनुभूति के साथ किया जाता है, वे चेतना के पट पर पत्थर की लकीर की तरह खिच जाती हैं, और उनका स्मरण एक पूरे चित्र का स्मरण होता है, इस या उस रेखा या आकृति का स्मरण नहीं। अर्थात् स्मृति मे वे घटनाएँ आती हैं तो एक अनिवार्य, परिवर्तनहीन अनुक्रम लेकर, जिसमे स्मरण करने वाले की कलम की स्वेच्छा नही, घटना की बाध्य अनुगतिकता है एक दूसरा सिद्धान्त है कि तीखी वेदनाजन्य अनुभूति को चेतना भुलाने का प्रयत्न करती है और क्रमश आत्म प्रतारणा के इतने पर्दो मे लपेट देती है कि उसकी आकार रेखा बिल्कुल ओझल हो जाती है, व्यक्ति की स्मृति से बिल्कुल निकल जाती है। किन्तु मैं देखता हूँ कि तीव्रतम अनुभूति की ये घटनाएँ न तो स्मृतिपट से मिटती हैं, और न पत्थर पर लिखे हुए इतिहास की तरह नित्य और अचल हैं। देखता हूँ कि कुछ दृश्य हैं, जो बिजली की कौंध की तरह जगमग हैं, कुछ और हैं, जो बुझ गए हैं और घटना के अनुक्रम का धागा तोड गए हैं, तोड ही नही, उलझा भी गए हैं, जिससे मैं उन ज्वलन्त घटनाओ को भी ठीक कालक्रम से नही देखता—मनमाने क्रम से जलती हुई आती और चली जाती हैं, और मैं दावे के साथ नही कह सकता कि क्या पहले हुआ, क्या पीछे हुआ, इतना ही कह सकता हूँ कि यह सब अवश्य हुआ और इसमें यह ध्वनित नहा है कि केवल इतना ही हुआ या कि इसी क्रम से हुआ ''।"

—शेखर : एक जीवनी, भाग-दो, पाँचवा सस्करण, पृ० 183

प्रतीत होता है कि 'नदी के द्वीप' विस्तृत कैनवेस पर अंकित किये जाने वाले मानव-जीवन के एक सीमित अंग का 'डिटेल' है।"[1]

'नदी के द्वीप' मे एक तो सवेदना का विस्तार है और दूसरे कथानक मे गठन और सतुलन। इस दृष्टि से 'शेखर एक जीवनी' से इसकी किञ्चित् भिन्नता स्पष्ट है। स्वय उपन्यासकार अज्ञेय ने इनके पारस्परिक अन्तर का विवेचन करते हुए लिखा है · ' 'नदी के द्वीप' व्यक्ति-चरित्र का ही उपन्यास है। घटना उसमे प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से काफी है पर घटना-प्रधान उपन्यास वह नही है। शेखर की तरह वह परिस्थितियो मे विकसित होते हुए एक व्यक्ति का चित्र है और उस चित्र के निमित्त उन परिस्थितियो की आलोचना भी नही है। वह व्यक्ति-चरित्र का, चरित्र के उद्घाटन का उपन्यास है। उसमे पात्र थोड़े हैं बल्कि कुल चार ही पात्र हैं। चार मे फिर दो और दो मे फिर एक और भी विशिष्ट प्राधान्य पाता है। 'शेखर' से अन्तर मुख्यतया इस बात मे है कि शेखर मे व्यक्तित्व का क्रमश विकास होता है, 'नदी के द्वीप' मे व्यक्ति आरम्भ से ही सुगठित चरित्र लेकर आते हैं। हम जो देखते हैं वह अमुक स्थिति मे उनका निर्माण या विकास नही, उनका उद्घाटन भर है और चार पात्रो मे जो दो प्रधान हैं, उन पर यह बात और भी लागू होती है, बाकी दो पात्रो मे तो कुछ क्रमिक विकास भी होता है। आप चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि 'नदी के द्वीप' चार सवेदनाओ का अध्ययन है। उसमे जो विकास है वह चरित्र का नही, सवेदनाओ की ही है।"[2]

उपर्युक्त उद्धरण से इतनी बात साफ हो जाती है कि 'नदी के द्वीप' म सवेदना की प्रधानता है। दूसरे शब्दो मे इसे यो भी कह सकते हैं कि प्रस्तुत औपन्यासिक कृति मे आधुनिकता की चुनौती को सवेदना के स्तर पर स्वीकृत और अभिव्यक्त किया गया है। इसमे पात्र चार हैं और इन चारो पात्रो के दृष्टि-कोण पर औपन्यासिक कथानक आधृत है। प्रत्येक पात्र की निजी परिस्थितियाँ और समस्याएँ हैं। अत उनके पारस्परिक दृष्टिकोण और उनकी सवेदनाओ मे एक प्रकार का अतराल और अलगाव है। उपन्यास का जो भाग (खड) जिस पात्र पर आश्रित है, उस भाग मे उसी से सम्बद्ध सवेदना या दृष्टि को अभिव्यक्ति मिली है। इस प्रकार पात्रो के आधार पर देखा जाए तो पूरे उपन्यास मे चार कथा-सूत्र हैं और इन कथा-सूत्रों को परस्पर सश्लेषित कर उनमे एकरूपता स्थापित करने की चेष्टा की गई है। चारो पात्रो मे रेखा का व्यक्तित्व अधिक

1 डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी हिन्दी नवलेखन, पृ० 99
2 अज्ञेय आत्मनेपद, पृ० 72-73

उजागर होता हुआ दिखाई पड़ता है। इस दृष्टि से उसे ही हम समग्र उपन्यास का केन्द्रीय पात्र और व्यक्तित्व मान सकते हैं। उपन्यासकार अज्ञेय की मान्यता भी यह है कि "रेखा 'नदी के द्वीप' का सबसे अधिक परिपक्व पात्र है" मेरी दृष्टि में वही उपन्यास का प्रधान पात्र भी है।"[1] दरअसल उपन्यास में अधिकांश घटनाओं और व्यापारों का नियोजन रेखा को लेकर ही किया गया है। चारों कथा सूत्रों का संयोजन रेखा के कारण ही होता है। अत स्पष्ट है कि वही वह विशिष्ट पात्र है, जिसके चहुँ ओर कथा का आवर्तन-प्रत्यावर्तन होता है।

उपन्यास के प्रारम्भ में भुवन का प्रसग नियोजित है। भुवन अपनी स्मृतियों के धरातल पर रेखा के सम्बन्ध में ही चिन्तन और प्रत्यावलोकन करता है। इस प्रत्यावलोकन के लिए उपन्यासकार ने प्रत्येक दर्शन-प्रणाली का सहारा लिया है। दूसरे खण्ड में रेखा और चन्द्रमाधव के पारस्परिक आकर्षण और प्रणय की सवदना की कथा अभिव्यञ्जित हुई है। रेखा का व्यक्तित्व भुवन और चद्रमाधव—दो पुरुषों के प्रणय-आकर्षण के बीच दोलायित होता हुआ तनाव की अतिशयता के कारण टूट-सा जाता है और बाद में चलकर वह डॉ० रमेश की परिणीता पत्नी बन जाती है। उधर भुवन की स्थिति भी बड़ी ही डाँवाडोल है। वह भी भविष्य में गौरा नामक अपनी शिष्या के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखता है। इस प्रकार चारों पृथक् कथा-सूत्रों को मिलाकर समवेत रूप प्रदान किया गया है। कथा में जहाँ कोई 'अन्तराल' (गैप) रह गया है, पत्रों के माध्यम से अथवा प्रत्यक् प्रणाली से वह पटता चलता है। इस प्रकार, प्रस्तुत उपन्यास के कथानक में एक ओर व्यापकता मिलती है तो दूसरी ओर इसका प्रस्तुतीकरण 'शेखर . एक जीवनी' की तुलना में अधिकाधिक सुव्यवस्थित और सुगठित रूप में किया गया है। अत औपन्यासिक दृष्टि से 'नदी के द्वीप' 'शेखर एक जीवनी' को कुछ हद तक पीछे छोड़ देता है। इस दृष्टि से यह कृति अज्ञेय की औपन्यासिक उपलब्धि और प्रतिभा को सहजत प्रमाणित करने में समर्थ सिद्ध होती है।

(3) 'अपने अपने अजनबी'

कथा वस्तु की दृष्टि से 'अपने-अपने अजनबी' अत्यन्त लघु उपन्यास है। इसमें वैचारिक दौर और प्रायोगिक नव्यता की प्रधानता है। 'प्रायोगिक नव्यता' से यहाँ आशय है—वस्तु और शिल्प की परम्परा-मुक्तता से। उपन्यासकार अज्ञय ने इस उपन्यास म एक तो 'वस्तु' को नये परिप्रेक्ष्य में विन्यस्त कर, ढाला सँवारा

1 आत्मनेपद, पृष्ठ 83

ऐसा पात्र अवश्य होता है, जिसके माध्यम से कथाकार अपने मतव्य अथवा कथ्य की अभिव्यक्ति सहज रूप मे करता है। कभी-कभार तो ऐसा भी होता है कि रचनाकार अपनी कल्पना, भावना और संवेदनशीलता को किसी विशिष्ट पात्र के व्यक्तित्व पर अभिकेन्द्रित कर उसको उपस्थापित करता है, साथ ही स्वय अपने व्यक्तित्व को, विशिष्ट पात्र के चरित्र-विधान के माध्यम से सामने लाने का उपक्रम करता है। इस प्रकार, चरित्र-विधान के द्वारा कथाकार (और नाटककार भी) अपनी सवेदना, भावना, कल्पना और उपपत्तियो को सम्प्रेषित करस्वय अपने आपको ही अवान्तर रूप से प्रस्तुत करता है।

अज्ञेय-पूर्व उपन्यासो मे चरित्रो (पात्रो) की अत्यधिक भरमार मिलती है। इसीलिए उन उपन्यासो मे घटनाओ का सायास विस्तार होता है। इसका परिणाम यह होता है कि उनकी कथा-वस्तु सपाट और वर्णनात्मक अधिक होती है। प्रेमचन्दोत्तर, विशेषकर अज्ञेय-स्कूल के उपन्यासो की स्थिति बिल्कुल भिन्न और विपरीत है। सबसे पहली बात तो यह है कि अद्यतन उपन्यासो मे चरित्रो (पात्रो) की सख्या अत्यन्त अल्प और सीमित होती है। कुछेक पात्रो के सहारे ही उपन्यासकार अपना काम चला लेता है। यह अकारण नही है। वस्तुत: इन उपन्यासकारो का अभीष्ट पात्रों अथवा चरित्रो के अधिकाश बाह्य क्रिया-व्यापारो का वर्णन करना अथवा उनकी इतिवृत्तात्मकता का प्रस्तुतीकरण करना न होकर, उनके मानसिक क्रिया-कलाप का उद्घाटन भर करना होता है। इसीलिए इन उपन्यासो मे घटनाओ का विवरण नही मिलता, मिलता है उनका चारित्रिक विश्लेषण। चारित्रिक विश्लेषण के निमित्त व्यक्ति-पात्रो के अवचेतन और अचेतन मन की अतल गहराई का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करना पडता है। इस प्रकार, आधुनिक उपन्यास-साहित्य में चरित्र-विधान को मनोवैज्ञानिकता का नया आयाम प्राप्त हुआ है।

हिन्दी-उपन्यास के क्षेत्र मे सुव्यवस्थित मनोवैज्ञानिकता के प्रवर्त्तन का प्रमुख श्रेय अज्ञेय को है। इसके पूर्व भी एकाधिक बार इस बात की आवृत्ति की जा चुकी है कि उपन्यासकार अज्ञेय का रूझान वस्तु की सघटना की ओर कम, व्यक्ति के चरित्र-विश्लेषण की ओर अत्यधिक है। इन्होने अपने औपन्यासिक पात्रों (चरित्रो) का चयन—प्राकारिक अथवा 'टाइप' रूप मे न कर सर्वथा व्यक्ति की इकाई के रूप में किया है। स्वय उनका कहना है कि "····मेरी रुचि सदैव व्यक्ति मे रही है।"[1] उन्होंने अपने प्रोक्त तीनो ही उपन्यासो मे व्यक्ति-चरित्र के उद्घाटन और

1. अज्ञेय आत्मनेपद, पृ० 72

विश्लेषण पर बहुविध बल दिया है। दूसरे शब्दो मे यो कहें कि उपन्यासकार के रूप मे अज्ञेय की दृष्टि सर्वत्र व्यक्ति पर अभिकेन्द्रित है। उन्होने अपनी एतद्-विषयक दृष्टि की अभिव्यक्ति पर बार-बार जोर दिया है। उदाहरण के बतौर उनके कुछ वाक्यो को उद्धृत करें :

(क) "आरम्भ मे वृत्तान्त मे एक नायक होता था, जिस पर या जिसके द्वारा घटनाएँ घटित होती थी। लेकिन उपन्यासकार यहाँ से निरन्तर बढता हुआ नायक के व्यक्तित्व और चरित्र को प्रधानता देता गया और अन्त मे चरित्र-नायक व्यक्ति प्रकार ('टाइप') न होकर विशिष्ट व्यक्ति होने लगे। पुरानी घटनाओ के नायकों की भाँति आधुनिक उपन्यास के नायक को 'धीर', 'धीरोदात्त' या 'शान्त' आदि वर्गों मे रख देना पर्याप्त नही है, प्रत्येक व्यक्ति का एक विशेष और अद्वितीय चरित्र होता है।"[1]

(ख) "व्यक्ति और परिस्थिति के सघर्ष के अध्ययन ने चरित्र (मानव-चरित्र) के उपन्यासो को जन्म दिया।"[2]

(ग) "अज्ञेय की दृष्टि मुख्यतया व्यक्ति-चरित्र की ओर रही है।"[3]

इन उद्धरणो के आधार पर इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञेय का अभीष्ट अपने उपन्यासो मे सर्वत्र और सर्वथा व्यक्ति-चरित्र का उद्‌घाटन, विश्लेषण और पर्यांकन करना है। श्री शिवदानसिंह चौहान का, अत यह कहना काफी हद तक सही है कि "न वे (अज्ञेय) उन मानव-चरित्रो की सृष्टि करते हैं, जो युग-सत्य के वाहक मानव-उद्योगो के प्रतीक, प्रतिनिधि चरित्र है। बल्कि वे केवल विशिष्ट व्यक्ति मानस के आन्तरिक सघर्ष को ही चित्रित करने का प्रयत्न करते हैं—जीवन की सामान्य परिस्थिति से अलग करके।"[4] इस दृष्टि से इनके उपन्यासो को 'व्यक्तिवादी' अथवा चरित्र-विश्लेषणमूलक उपन्यास नाम से सज्ञापित कर सकते हैं।

अब अज्ञेय के समस्त उपन्यासो के चरित्र-विधान का विवेचन-विश्लेषण पृथक्-पृथक् रूप मे करें :

1 हिन्दी-साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य, पृ 82
2 उपरिवत्
3 वही, पृ० 107
4 शिवदान सिंह चौहान—साहित्यानुशीलन, पृ 261

'शेखर : एक जीवनी'

'शेखर एक जीवनी' अज्ञेय का व्यक्तिवादी और चरित्र विश्लेषणमूलक उपन्यास है। जैसा कि इसके शीर्षक से ही स्पष्ट हो जाता है, शेखर ही उपन्यास का मुख्य पात्र है और उसी एक व्यक्ति पात्र के चरित्र को पूरे उपन्यास के 'कैनवैस' पर विश्लेपित किया गया है। यहाँ तक कि अन्य पात्रो का नियोजन भी उसी के लिए किया गया है—चाहे वह शारदा हो या शान्ति, सरस्वती हो अथवा शशि आदि। इस कृति मे महत्त्व कथा का न होकर, जिस चरित्र की कथा कही गई है, महत्त्व उसी का है। इसमे 'शेखर' की ही समग्र कथा कही गई है। उसकी यह कथा 'कथा' के लिए नही, उसके चरित्र के रेखांकन के लिए ही मुख्य रूप से गढी गई है।

शेखर साधारणता से परे अर्थात् असाधारण व्यक्ति चरित्र है। 'टाइप' तो वह बिल्कुल नही है। वह 'मूल रचना' है, 'प्रतिलिपि' नही।[1] आदश के ढाँचे मे उसका व्यक्तित्व ढला हुआ नही है। अत उसके व्यक्तित्व म यथार्थ का एक स्वाभाविक अनगढपन दिखाई पडता है। अक्खडपन, अहता, विद्रोह, बौद्धिकता, सवेदनशीलता, यौन-भावना की अतिशयता तथा कुण्ठा उसकी मन स्थिति की विशेष वृत्तियाँ हैं। उसकी इन मानसिक प्रवृत्तियों का समग्रत विश्लेपण उपन्यासकार ने अपने इस उपन्यास मे किया है।

शेखर अत्यधिक सवेदनशील है। अपने सम्पर्क में आने वाली हर नयी वस्तु और परिस्थिति के सम्बन्ध में वह जानकारी प्राप्त करना चाहता है यानी उसम जिज्ञासा की तीव्र तडप है। कभी तो वह ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध मे अपनी जिजीविषा व्यक्त करता है, कभी मानव (शिशु) के जन्म मरण के बारे म अपनी जिज्ञासा का परिशमन करना चाहता है। समग्रत वर्जनाओ के आवरण को वह अनावृत करना चाहता है। उसकी जिज्ञासाओ का परिशमन न हो सकने के कारण उसकी चेतना पर ग्रन्थियो और कुण्ठाओ की पपडियाँ पड जाती हैं। इसी कारण कालान्तर म उनमे अनास्था और विद्रोह के तीव्र भावो का उद्रेक होता है। उसका विद्रोह इतना अधिक व्यापक है कि किसी व्यक्ति, वर्ग या समाज विशेप तक परिसीमित न होकर उसके निजी स्वभाव और धर्म का रूप तक धारण कर लेता है। फलत स्वय के प्रति भी वह विद्रोही बन जाता है।

शेखर के व्यक्तित्व का विकास—अह, भय और सेक्स—इन तीन बिन्दुओ

1 शेखर एक जीवनी, प्रथम भाग, सस्करण 1966 पृ० 53

पर होता हुआ दृष्टिगत होता है। अह-भाव प्रारम्भ से ही उसके अन्तरंग जीवन का स्वभाव और अंग बन चुका है। बचपन में—तीन वर्ष की अवस्था में वह एक लेटर बॉक्स पर सवार है, मानो जैसे कोई सम्राट् अपने घोड़े पर बैठकर संसार को ललकार रहा हो। वह सारे संसार से एक लेटर बॉक्स की ऊँचाई भर ऊँचा है और संसार की क्षुद्रता पर हँसता तथा दूसरों का मजाक उड़ाता है। डाकिए के मना करने पर, प्रतिशोध के रूप में वह उस डाकिए के पाँवों को कुचलते हुए भाग खड़ा होता है तथा अपने-आपमें विजय तथा हर्षोल्लास का अनुभव करता है। वस्तुतः यह उसके अहं का प्रतीक तथा सूचक है।

अहं के बाद उसका साक्षात्कार भय से तब होता है, जब वह अजायबघर में फिरते हुए नकली बाघ को देखकर भाग खड़ा होता है। कालान्तर में उसने अपने अनुभव के आधार पर जान लिया कि 'डर डरने से होता है। संसार की सब भयानक वस्तुएँ हैं, केवल एक घास-फूस से भरा निर्जीव चाम, जिससे डरना मूर्खता है।' अतः भविष्य के लिए वह पूर्णतः विश्वस्त हो गया कि "जब कभी कोई भयानक वस्तु देखो, तब डरो मत, उसका बाह्य चाम काट डालो, उसके भीतर भरी हुई घास-फूस निकाल कर बिखरा दो।" उसकी इस मान्यता और धारणा ने उसे (उद्धत, विध्वंसक और हिंस्र तो नहीं, किन्तु) पूर्णतः विद्रोही अवश्य बना दिया।

शेखर के व्यक्तित्व का विकास सिगमण्ड फ्रायड के यौन-सिद्धान्त के अनुरूप ही होता है। उसके सम्पूर्ण जीवन में यौन-भाव (सेक्स) किसी-न किसी रूप में व्याप्त व सक्रिय है, जिससे सम्बद्ध एवं उद्भूत समस्याओं तथा मनोभावों का सूक्ष्म विश्लेषण उपन्यासकार अज्ञेय ने अपने इस उपन्यास में किया है। जहाँ-कहीं शेखर किसी अनुचित अथवा वर्जित दृश्य को देखता है, तत्क्षण उसका मन यौन-भाव (सेक्स) से आन्दोलित हो उठता है। मनोविज्ञान का यह परीक्षित सत्य है कि मनुष्य विशेषकर, बच्चे निषिद्ध अथवा वर्जनाओं के प्रति अधिकाधिक मात्रा में जिज्ञासु व प्रवृत्त होते हैं। जिस मात्रा में वर्जनाएँ होती हैं, उसी अनुपात में बच्चे के मन में उस रहस्य की गहराई में प्रविष्ट होने की तीव्र उत्कंठा, लालसा और बलवती इच्छा जाग्रत होती है। शेखर के संदर्भ में यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त सौ-फी-सदी सही प्रतीत होता है। मध्यम वर्गीय परिवारों की ही भाँति उसके परिवार में भी यौन सम्बन्धों की चर्चा वर्जित है। अतः उसका यौन-भाव कुण्ठित हो जाता है। फिर बाद में चलकर वह अपनी इस यौनगत कुण्ठा का साक्षात्कार करता है, जो उसकी जीवन-यात्रा का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आयाम है। इसके पूर्व भी कई बार कहा जा चुका है कि शेखर घोर अहंवादी है। वस्तुतः उसका यौन-भाव भी उसके

अहं भाव का अंग बनकर व्यक्त होता है। एक ओर वह अपने सम्पर्क में आने वाले समस्त पुरुषों से सम्मान की आकांक्षा करता है तो दूसरी ओर स्त्रियों से प्रणय और प्यार। इस सन्दर्भ में एक बात और भी ध्यान देने की यह है कि वह केवल आदान चाहता है, प्रदान नहीं। वह कहता है "मुझे मूर्ति उतनी नहीं चाहिए, मुझे मूर्ति-पूजक चाहिए। मुझे कोई ऐसा उतना नहीं चाहिए, जिसकी ओर मैं देखूं, मुझे वह चाहिए, जो मेरी ओर देखे। यह नहीं कि मुझे आदर्श पुरुष नहीं चाहिए—पर उन्हें मैं स्वयं बना सकता हूँ। मुझे चाहिए आदर्श का उपासक, क्योंकि वह मैं नहीं बना सकता। अपने लिए ईश्वर-रचना मेरे बस में है, लेकिन मेरी ईश्वरता का पुजारी—वह नहीं।"[1] जिस किसी से भी उसका स्नेह अथवा प्रणय-सम्बन्ध स्थापित होता है, उस पर वह (शेखर) सम्पूर्ण रूप से अपना आधिपत्य अथवा एकाधिकार चाहता है, जो मनोविज्ञान-समर्थित है।

शेखर के यौन-भाव का विकास तीन बिन्दुओं पर होता है: आत्मरति, समलिंगी रति और विपरीत लिंगी रति। आत्मरति उसमें मुख्य रूप से वहाँ दिखाई पड़ती है, जहाँ भीतर से उसका 'आत्म'-पक्ष प्रबल होकर लोगों को अपनी ओर आकृष्ट कर अपनी पूजा कराना चाहता है। उसकी समलिंगी रति जाग्रत होती है—अपने से एक वर्ष बड़े सहपाठी मित्र कुमार के प्रति। उसके अन्दर विपरीत लिंगी रति के भावों का अनेकशः उद्रेक उन समस्त नारियों के सदर्भ में होता है जो कोई उसके सम्पर्क में आती है—चाहे वह सरस्वती हो, चाहे शीला, शारदा या शान्ति हो या चाहे शशि हो, यह सब उसके भावों का अतिरेक या व्यभिचार न होकर उसकी 'सहज बुद्धि' और उसके 'सहज विकास' का स्वाभाविक परिणाम है। यही कारण है कि उसकी सगी बड़ी बहन—सरस्वती उसे 'सरस', माँ 'मधुर' और मौसेरी बहन शशि 'सुन्दर', और 'उन्मद' तथा उसके व्यक्तित्व की 'पूरक' प्रतीत होती है। इस प्रकार, विद्रोही वह चाहे जिस किसी भी वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रति हो, किन्तु प्रारम्भ से ही वह अपने सम्पर्क में आने वाली तमाम नारियों के प्रति आकृष्ट, आसक्त और समर्पित है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यौन-भाव ही उसके अन्तरंग चरित्र की मूल और विशिष्ट प्रवृत्ति है, जिसके द्वारा वह परिचालित और निर्देशित होता है।

प्रेम और घृणा—दो ऐसी विशिष्ट प्रवृत्तियाँ हैं, जिनके आसंग में ही शेखर के व्यक्तित्व का विकास, प्रत्येक स्तर पर होता हुआ दिखाई पड़ता है। लेखक के मतानुसार, सच तो बल्कि यह है कि "शेखर के जीवन को इन्हीं दोनों शक्तियों

1. शेखर एक जीवनी, प्र० भाग, संस्करण 1966, पृ० 154

ने सम्भव बनाया—घृणा ने ही उसे इतनी शक्ति दी कि वह सब कुछ खोकर भी ससार को ललकारे और वासना ने उसे जगाया कि वह चोट का सामना करे, जो उसके हृदय को लगी है।"[1]

'शेखर. एक जीवनी' के नायक का व्यक्तित्व-विकास—प्रेम, घृणा और वासना तीन बिन्दुओ पर होता है। प्रेम, घृणा और वासना की यह भावना क्रमश उसके पिता, उसकी माँ तथा सरस्वती, शारदा, शान्ति और (सबसे बढकर) शशि आदि के सन्दर्भ मे अधिक स्पष्टता से व्यक्त होती हैं।

शेखर के मन मे जो भाव प्रारम्भ मे जिस रूप मे बन चुके है, वे ही आगे चलकर उसके अन्दर सस्कार के रूप मे सक्रिय होते है। शुरू मे वह अपनी माँ से घृणा करता है और बाद मे असहयोग आन्दोलन से प्रभावित होकर विदेशी मात्र से घृणा करने लग जाता है। कालान्तर मे उसकी घृणा का विस्तार विदेशी कपडो तथा विदेशी भाषा तक से हो जाता है। व्यक्तिवादी शेखर में सामाजिक दाय-बोध का नितान्त अभाव है, ऐसा मानना सर्वथा अनुचित होगा। उसमे पर्याप्त मात्रा मे सहृदयता, मानवीय सहानुभूति, करुणा तथा सवेदनशीलता के तत्त्व सश्लिष्ट रूप मे दिखाई पडते हैं। बचपन मे मनोरजन के लिए पिंजरे मे बन्द पक्षियो को उडाकर उन्हें उन्मुक्त कर देने मे उसे विशेष सतोष मिलता है। निम्न जातीय विधवा के यहाँ जाने तथा उसकी बेटी फूलाँ के साथ खेलने की उसकी मनाही की जाती है। किंतु उसके बावजूद उसका मन-प्राण सहानुभूति के भावो से आप्लावित हो जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि शेखर 'दूर बैठे उस विधवा की पूजा तक करने लग गया ' तथा फूलाँ भी उसके लिए एक पददलित देवी-सी हो गई।' कॉलेज-जीवन मे वह मालाबार प्रदेश की यात्रा मात्र इसलिए करता है ताकि ब्राह्मणो द्वारा शोषित अछूतो के शोषण का अनुभव प्राप्त कर सके। वहाँ मरणासन्न नारी को पीठ पर लाद कर वह अस्पताल पहुँचाता है तथा एक असहाय महिला को गाडी मे चढाने मे सहायता करता है, जिसके लिए उसे एक दूसरे व्यक्ति से झगडना भी पडता है, फिर आगे चलकर असहाय-निर्धन निरक्षर बालको को पढाने के लिए वह रात्रि-पाठशाला की स्थापना करता तथा उसमे स्वय पढाता है। घोर अहवादी और विद्रोही प्रतीत होने वाला शेखर 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक का अभिनय, भीगी पलको से देखता हुआ अपनी सवेदनशील मनोवृत्ति का परिचय देता है।

प्रेम और वासना : जीवन के दो ऐसे निर्णायक तत्त्व हैं, जो व्यक्ति के आत्म-विकास मे सहायक सिद्ध होते हैं। वस्तुत जीवन-यात्रा के ये ही पाथेय हैं, जिनका

1 शेखर एक जीवनी प्रथम भाग, सस्करण, 1966, पृ० 181

ीवन-पर्यन्त प्रयोग शेखर करता है। प्रारम्भ में उसका प्रेम घोर वैयक्तिक है न्तु बाद में (वह प्रेम) नैतिक समस्या का रूप ग्रहण कर लेता है। वह कहता : "सभी प्यार, प्यार मात्र—मूलत: एक समस्या है और दो इकाइयों तक ीमित नहीं है...कितने सूत्र—पक्के और दुर्बल, मोटे और सूक्ष्म, सीधे और आड़े, स समस्या से उलझे हुए हैं और उसे विकट बनाते हैं..... मूल समस्या साम- स्य की है, प्यार एक आकर्षण है, एक शक्ति, जिससे जीवन की स्थितिशीलता चलित हो जाती है, वह विचलन की समस्या है क्योंकि वह व्यापक है और ौलिक, जीवन के 'तरवार की धार पर'—असंख्य धारों पर!—सधे हुए सम- ोल को डगमगा जाती है तब तक समस्या है, जब तक कि उतना ही व्यापक ामञ्जस्य फिर न खोज निकाला जाए...समस्या है और साधना है, तपस्या ...।" इस प्रकार, इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेम और वासना ी यह मूल संवेदना है, जो शेखर के व्यक्तित्व को आन्दोलित और स्थापित रती है। द्रष्टा शेखर की भी भोक्ता शेखर के सम्बन्ध में यही धारणा है कि ादि स्त्रियाँ न होतीं, तो शायद वह जी नहीं सकता।' इससे निष्कर्ष यह हाथ गता है कि प्रणय ही वह मूल प्रवृत्ति है, जिससे शेखर विभिन्न धरातलों से ोकर गुजरने को अनुप्रेरित होता है। वस्तुत: अहं से ग्रस्त दीखने वाला शेखर न्य प्रेमी अथवा कहें 'रोमांटिक विद्रोही' है, जिसका व्यक्तित्व एकांगी न ोकर सर्वथा संश्लिष्ट है।

उपन्यासकार अज्ञेय ने 'शेखर : एक जीवनी' में शशि का चरित्रांकन संवेदना धरातल पर अत्यन्त तरल और लिजलिजे रूप में किया है। वह अहंवादी तो ल्कुल नहीं है। विद्रोह उसमें अवश्य है, किन्तु संवेदना के धरातल तक ही ीमित। यही कारण है कि अपने प्रेमी शेखर के प्रति अपने सर्वस्व का स्वेच्छया मर्पण करने के बावजूद वह अपने आपको रमेश की परिणीता पत्नी ही मानती ौर कहती है। समर्पण की वह प्रतिमा है। उसमें आदान तो बिल्कुल नहीं वल प्रदान और प्रदान ही है। एक स्थल पर वह अपने प्रेमी शेखर से कहती मैं विवाहिता हूँ। अपना आप मैंने स्वेच्छा से दिया है, अपने का, इह का र दिया है—आहुति दे दी है। जो दे दिया है, मेरा नहीं है, उसको ...र ही वह सकती, न कुछ स्वीकार ही कर सकती हूँ, न प्रतिवाद कर स कुछ दे सकती हूँ। अपने को मिटा देने में मैंने कंजूसी नहीं की ्या—होम कर दिया, और देख लिया कि सब जल गया है—धूल र, तुममें मेरा वह जीवन है, जो मैं हूँ, जो मेरा मैं है।...शेखर, ं, भाई, बेटा, कुछ मत समझो, क्योंकि मैं—अब कुछ नहीं हू ौर 'अमूर्त' होकर मैं—तुम्हारा अपना आप हूँ जिसे

दोगे।'[1] शशि आत्म-पीडा और आत्मोत्सर्ग मे ही सतोष और सुख की अनुभूति प्राप्त करती है। शेखर के खातिर वह क्या सब नही करती है—पति का त्याग, भरा-पूरा घर-परिवार, समाज और लोक-लाज सबका सहर्ष न्योछावर करती-करती, अन्ततोगत्वा स्वय अपने-आपसे भी टूट जाती है। उसका टूट जाना ही वस्तुत उसकी मुक्ति है जीवन-मुक्ति! शशि का व्यक्तित्व भी, अवान्तर रूप से पूरे उपन्यास मे आधार-फलक पर आयत्त है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे शशि ही शेखर के लिए जीवनसाध्य हो, जिसकी साधना वह आजीवन करता है। वस्तुत प्रणय की परिणति और पराकाष्ठा वही होती है, जहाँ देह का देह से और आत्मा का आत्मा से, एकरूपात्मक सम्मिलन स्थापित हो जाये। शेखर और शशि का पारस्परिक सम्बन्ध समग्रत भावना से 'भावना तक भटकता हुआ एक विचार' है और शशि, शेखर के लिए 'चिरन्तन प्रेरणा' और 'मोक्षदा' सिद्ध होती है।

उपन्यास मे कतिपय अन्य गौण पात्रो, जैसे बाबा मदनसिंह, मोहसिन तथा रामजी के चरित्र का नियोजन, वैचारिक प्रतीको के रूप मे किया गया है। बाबा मदनसिंह के विचार-दर्शन से शेखर अघोर प्रभाव ग्रहण करता है। उनके दो-तीन सूत्रो से बेहद प्रभावित होता हुआ शेखर उनम अपने जीवन सूत्रो को पहचानने की कोशिश करता है। वे सूत्र हैं :

(क) 'पीडा तपस्या है, किन्तु असली तपस्या तो जिज्ञासा है—क्योकि वही सबमे बडी पीडा है।"[2]

(ख) "अभिमान से भी बडा दर्द होता है पर दर्द से बडा एक विश्वास।"[3]

(ग) " · · अहकर स्वाभाविक होना है, विनय सीखनी पडती है।'[4]

शेखर का व्यक्तित्व वेदनापरक है। वेदना का प्रस्फुटन उसके अन्तर्चरित्र से होता है। अत उसकी वेदना स्वभाव-जन्य है। उपन्यासकार की मान्यता है कि 'वेदना एक शक्ति है जो दृष्टि देती है। जो यातना मे है, वह द्रष्टा हो सकता है।" शेखर जान-बूझकर 'दु ख के आँचल' में विश्राम करना चाहता है। क्योकि

1 शेखर एक जीवनी, भाग दो पृ० 166
2 वही, पृ० 83
3 वही पाँचवाँ सस्करण, पृ० 96
4 वही, पृ० 64

वह मानता है कि "दु.ख ससर्ग-जन्य है, वह उदात्त और शोधक भी है। दु ख का ससर्ग परिवर्त्ती को भी शुद्ध और उदात्त बनाता है।"[1] वस्तुत दु ख की छाया एक तरह की तपस्या है,[2] जिसकी ताप मे शेखर की आत्मा शुद्ध होती है।

ऊपर के समग्र विवेचन के आधार पर स्पष्ट हो जाता है कि "शेखर एक जीवनी' मे चरित्र-विश्लेषण की प्रधानता है। शेखर मुख्यत अन्तर्मुखी है। वह सैद्धान्तिक अधिक है, व्यावहारिक कम। इसका मतलब यह नही है कि व्यावहारिकता से वह अछूता अथवा वचित है। हाँ यह अवश्य है कि उसका सैद्धान्तिक पलडा अधिक झुका हुआ है। इस तरह पूरे उपन्यास मे उसका चरित्र अतरग बन गया है। अतरग चरित्र होने के कारण उसका बाह्य-चित्रण कम, आन्तरिक चित्रो की भरमार और अधिकता है। यही कारण है कि यह उपन्यास अभिधात्मक न होकर सर्वथा अभिव्यजनात्मक हो गया है।

नदी के द्वीप

'शेखर एक जीवनी' की ही भाँति 'नदी के द्वीप' भी प्रधानत चरित्र विश्लेषण का उपन्यास है। उपन्यास का चरित्र-नायक अथवा सबसे प्रमुख पात्र है—भुवन। अत सम्पूर्ण रचना मे उसी के चरित्र की अतरगता का उद्घाटन विश्लेषण और उसकी सवेदन की सूक्ष्मता का अकन प्रधान हो गया है। उसके अलावा—रेखा, गौरा और चन्द्रमाधव तीन और भी पात्र हैं, जिनक चरित्र उद्घाटित व विश्लेपित हो सके हैं। इस कारण, समग्रत इसे चरित्र प्रधान अथवा चरित्र-मूलक उपन्यास मानना ही उचित होगा। स्वय अज्ञेय का भी इस सम्बन्ध म यही अभिमत है कि 'नदी के द्वीप' व्यक्ति-चरित्र का उपन्यास है। × × × वह व्यक्ति-चरित्र का, चरित्र के उद्घाटन का उपन्यास है।"[3]

प्रस्तुत औपन्यासिक कृति म जिन व्यक्ति चरित्रो को विश्लेपित किया गया है, वे चरित्र आरोपित न होकर खासा मनोवैज्ञानिक हैं। इसलिए कही भी और कभी भी वे अपरिचित और अनजान बनकर हमारे समक्ष प्रस्तुत नही होते। उपन्यासकार अज्ञेय ने अपनी इस कृति मे पात्रो अथवा चरित्रो के अन्तर्भावो का विश्लेपण मनोविज्ञान की सैद्धान्तिक प्रयोगशाला मे रखकर किया है। यही कारण

1 'शेखर एक जीवनी', पाचवा सस्करण, पृ० 30
2 वही, पृ० 31
3 अज्ञेय आत्मनेपद, पृ०72

है कि इसके चरित्र विधान तथा शिल्प-विन्यास में अधुनातन मनोवैज्ञानिक विधियों, जैसे—पूर्व-दीप्ति अथवा प्रत्यव्-दर्शन प्रणाली (Flash back style), चेतना प्रवाहात्मक (Stream of Consciousness) एव अन्तर्चित्रों (Inside views) आदि को प्रयुक्त किया गया है।

'शेखर : एक जीवनी' में शेखर के बाल्य-काल से जीवन के अन्तिम पड़ाव तक के चरित्र को उद्घाटित किया गया है। उसमें बाल-मनोविज्ञान से वयस्क मनोविज्ञान तक को उरेहा गया है, क्योंकि शेखर बनने और बढ़ने की अवस्था और प्रक्रिया से होकर गुजर रहा है, जबकि 'नदी के द्वीप' के सभी पात्र मुख्यतः भुवन वयस्कावस्था के उपरान्त अपनी यात्रा शुरू करते हैं। यही कारण है कि इन पात्रों के चरित्र में कई प्रकार की ग्रन्थियाँ, यौन-भावना, कुण्ठा तथा अभिजात्य भावातिशयता अपने नैसर्गिक रूप में दिखाई पड़ती हैं। शेखर का चरित्रांकन उसकी अपरिपक्वावस्था से शुरू होता है। इसलिए उसके चरित्र में उतार-चढ़ाव अधिक है। किन्तु 'नदी के द्वीप' के पात्रों के चरित्र-चित्रण में उस हद तक उतार-चढ़ाव नहीं है, क्योंकि उपन्यास में उनका अवतरण प्रौढ़ और पूर्ण विकसित रूप में होता है। अज्ञेय ने स्वय अपना सहमतित्व इन शब्दों में व्यक्त किया है। " 'शेखर में व्यक्तित्व का क्रमश: विकास होता है' 'नदी के द्वीप' में व्यक्ति आरम्भ से ही सुगठित चरित्र लेकर आते हैं।"[1] ठीक इसी तथ्य को डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने दूसरे लहजे में स्वीकार करते हुए लिखा है : "शेखर की तुलना में भुवन का व्यक्तित्व प्रौढ़ और विकसित है। लगता है कि बाह्य संघात का जो प्रभाव उस पर पड़ना था, पड़ चुका। अब वह व्यक्तित्व-संघटन के सूक्ष्म और सूक्ष्मतर तत्वों के मथन में है।"[2] इस सन्दर्भ में ऐसा प्रतीत होता है, जैसे, 'नदी के द्वीप' का भुवन 'शेखर' का ही परिवर्द्धित, विकसित और परिष्कृत सस्करण हो। फिर भी, शेखर में जो सश्लिष्टता, कसावट, ऊर्जा और विद्रोहधर्मक जीवन्तता है, भुवन में उसका अभाव नहीं, तो आनुपातिक अभाव अवश्य है। रेखा का चरित्र निश्चय ही शशि की तुलना में अधिक वस्तुनिष्ठ, आत्म-निर्भर और समर्पणशील है। शशि समर्पण की मिट्टी से बनी प्रतिमा है। इसलिए समस्त वह काव्यमयी है, बल्कि कहें वह गीतिमयी है। उसका पूरा का पूरा व्यक्तित्व एक प्रकार का गीतात्मक टेक बन गया है तथा उसके अन्दर से एक विशेष प्रकार की काव्यात्मक अर्थवत्ता का प्रस्फुटन होता है। रेखा गद्यमयी है। उसमें गद्य की कथात्मकता सुरक्षित है।

1 अज्ञेय आत्मनेपद, पृ० 72
2 अज्ञेय और आधुनिक रचना की [illegible]

वह मानता है कि "दु ख ससर्ग-जन्य है, वह उदात्त और शोधक भी है। दु ख का ससर्ग परिवर्त्ती को भी शुद्ध और उदात्त बनाता है।"[1] वस्तुत दु ख की छाया एक तरह की तपस्या है,[2] जिसकी ताप म शेखर की आत्मा शुद्ध होती है।

ऊपर के समग्र विवेचन के आधार पर स्पष्ट हो जाता है कि "शेखर एक जीवनी' मे चरित्र-विश्लेषण की प्रधानता है। शेखर मुख्यत अन्तर्मुखी है। वह सैद्धान्तिक अधिक है, व्यावहारिक कम। इसका मतलब यह नही है कि व्यावहारिकता से वह अछूता अथवा वचित है। हाँ यह अवश्य है कि उसका सैद्धान्तिक पलडा अधिक झुका हुआ है। इस तरह पूरे उपन्यास मे उसका चरित्र अतरग बन गया है। अतरग चरित्र होने के कारण उसका वाह्य चित्रण कम, आन्तरिक चित्रो की भरमार और अधिकता है। यही कारण है कि यह उपन्यास अभिधात्मक न होकर सर्वथा अभिव्यजनात्मक हो गया है।

नदी के द्वीप

"शेखर एक जीवनी' की ही भाँति 'नदी क द्वीप' भी प्रधानत चरित्र विश्लेषण का उपन्यास है। *उपन्यास का चरित्र-नायक अथवा सबसे प्रमुख पात्र है—* भुवन। अत सम्पूर्ण रचना मे उसी के चरित्र की अतरगता का उद्घाटन विश्लेषण और उसकी सवेदन की सूक्ष्मता का अकन प्रधान हो गया है। उसके अलावा— रेखा, गौरा और चन्द्रमाधव तीन और भी पात्र हैं, जिनके चरित्र उदघाटित व विश्लेषित हो सके हैं। इस कारण, समग्रत इसे चरित्र प्रधान अथवा चरित्र-*मूलक उपन्यास मानना ही उचित होगा। स्वय अज्ञेय का* भी इस सम्बन्ध म यही अभिमत है कि 'नदी के द्वीप' व्यक्ति चरित्र का उपन्यास है। ××× वह व्यक्ति-चरित्र का, चरित्र के उद्घाटन का उपन्यास है।"[3]

प्रस्तुत औपन्यासिक कृति मे जिन व्यक्ति चरित्रो को विश्लेपित किया गया है, वे चरित्र आरोपित न होकर खासा मनोवैज्ञानिक है। इसलिए कही भी और कभी भी वे अपरिचित और अनजान बनकर हमारे समक्ष प्रस्तुत नही होते। उपन्यासकार अज्ञेय ने अपनी इस कृति मे पात्रो अथवा चरित्रो के अन्तर्भावो का *विश्लेषण मनोविज्ञान की सैद्धान्तिक प्रयोगशाला मे रखकर किया है। यही कारण*

1 'शेखर एक जीवनी, पाचवा सस्करण पृ० 30

लक्ष्य बनाता है। रेखा का आदर्श है दान, चन्द्रमाधव का लब्धि। इसलिए रेखा मे ईर्ष्या नही है और चन्द्रमाधव मे प्रेम उसके बिना मानो अभिव्यक्ति ही नही पा सकता।"[1]

अपने-अपने अजनबी

'अपने-अपने अजनबी' नितान्त रूप से चरित्र-विश्लेषण का उपन्यास है। शीर्षक का अन्तिम 'अजनबी' शब्द व्यक्ति का उपवाच्य है। अत: अवान्तर रूप से यह पद व्यक्ति-चरित्र को सकेतित करता है। पूरा-का-पूरा उपन्यास तीन भागो मे विभक्त है : 'योके और सेल्मा' 'सेल्मा' और 'योके'। यह विभाजन योके और सेल्मा के चरित्र को ही चतुर्दिक रूप से व्यञ्जित करता है। प्रकारातर से यो कहे कि उपन्यासकार का अभीष्ट योके और सेल्मा के चरित्र का उद्घाटन भर करना है। यह बात दूसरी है कि अज्ञेय का अन्तिम उद्देश्य इन दोनो प्रतीक पात्रो के माध्यम से अपनी अस्तित्ववादी उपपतियों का प्रस्तुतीकरण करना रहा हो। लेकिन इतनी बात तो निश्चित है कि अपने उद्देश्य तक पहुँचने के लिए उन्हे चरित्र-विधान की राह मे से विवशत: गुजरना पडा है। दूसरे शब्दो मे यह कहना शायद अधिक जायज होगा कि 'अपने-अपने अजनबी' का चरित्र-विधान उपन्यास और उपन्यासकार की रचना-प्रक्रिया का अग बन गया है। सभवत. यही कारण है कि इसमे आगत दोनो ही प्रमुख पात्र (योके और सेल्मा) दर्शन की मिट्टी से बने प्रतीक-प्रतिमा के रूप मे उपन्यास मे सचरण करते हैं। चूँकि दोनो पात्र परस्पर दो विलोम दृष्टि और दर्शन के प्रतीक रूप मे गृहीत किये गए हैं, इसलिए दोनो के चरित्र में परस्पर विरोध भी दिखाई पडता है। अब, सेल्मा और योके के चरित्र का पृथक्-पृथक् विवेचन तथा अध्ययन करना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

सेल्मा : सेल्मा कैन्सर से पीडित और ग्रस्त है। वह मरणासन्न है। मरना चाहती है। किन्तु, उसकी नियति मृत्यु को भी वरण करने नही देती। अत: वह विवश है—निराश तो पहले से ही है। जीना भी चाहती है, लेकिन अन्तत. उसकी परिणति मृत्यु मे ही होती है। इस प्रकार, विवशता का वरण करना, उसकी बेबस निमति है। सेल्मा का चरित्र सर्वथा आत्म-केन्द्रित, दमित और अहवादी है। इतना सब होने के बावजूद वह आस्तिक और आस्थावादी है। वस्तुत. अपने सम्पूर्ण रूप मे वह आस्था, बल्कि कहें कि भारतीय आस्था का प्रतीक है। कहते हैं

1. आत्मनेपद, पृ० ८४

अत' उसके व्यक्तित्व मे तात्विकता की सघटना और सरचना का प्राचुर्य मिलता है।

'शेखर : एक जीवनी' की तरह ही 'नदी के द्वीप' मे भी 'वेदना' के महत्त्व को पुरजोर तौर पर स्वीकारा गया है। इस 'वेदना' अथवा 'यातना' के आलोक मे ही शेखर अपने दृष्टिकोण का निर्माण और विकास करता है। 'नदी के द्वीप' के पात्रो के चारित्रिक विकास मे भी यह 'दु.ख' अथवा 'पीडा' तत्त्व अधिक सहायक व उपादेय सिद्ध होता है। इसके माध्यम से ही भुवन 'मुक्ति' की तलाश करना चाहता है। रेखा ने बार-बार 'वेदना' के महत्त्व को समझा-बूझा, स्वीकारा तथा उसे आत्मसात् किया है। रेखा आत्म-पीडन के मूल्य पर भुवन और गौरा के प्रति सवेदनशील बनती तथा भुवन को अपने-आपसे मुक्त करती है। गौरा का चरित्र भी कुछ इसी प्रकार का है। वियोग और विरह मे ही वह विशेष आनन्द का अनुभव करती है। इससे यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यासकार अज्ञेय ने पीडा अथवा वेदना को समग्रतः एक सबल तत्त्व और दर्शन के रूप मे अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया है। **'दु ख सबको माँजता है'**—इस सूत्र के विशेष सदर्भ मे ही प्राय: सभी पात्रो के चरित्र को विश्लेपित किया गया है। अन्तत' एक बात यहाँ विशेष रूप से ज्ञातव्य यह है कि इस उपन्यास के व्यापक फलक पर जिस वेदनावाद को अभिव्यक्ति दी गई है, वह समष्टिमूलक न होकर अधिकाश तौर पर व्यष्टिमूलक ही है। इस दृष्टि से कुल मिलाकर, निष्कर्ष यह हाथ लगता है कि 'शेखर · एक जीवनी' के पात्रों की तरह 'नदी के द्वीप' के व्यक्ति-पात्रो के व्यक्तित्व-विकास मे बाह्य सघात कम, आन्तरिक ग्रालोडन-विलोडन अधिक है।

एक बात और भी विशेष रूप से कथनीय यह है कि 'नदी के द्वीप' की कथात्मक सघटना 'शेखर : एक जीवनी' की अगली कडी है यानी परिशिष्ट व प्रस्तावित रूप मे 'शेखर : एक जीवनी' भाग तीन। इसलिए इसके पात्र भी 'शेखर : एक जीवनी' के पात्रो के अगले सस्करण के रूप मे ही परिलक्षित होते हैं। कम-से-कम रेखा के चरित्र से यह बात अधिक स्पष्टता से व्यक्त होती है कि वह शशि का विकसित रूप है, क्योकि शशि के चरित्र मे जो मूल विशेपताएँ अतर्निहित हैं, उनकी परिणति, एक प्रकार से शशि के चरित्र और व्यक्तित्व मे होती है। शशि की तरह रेखा भी केवल प्रदान मे विश्वास करती है, जबकि चन्द्रमाधव मे आदान की तीव्र आकाक्षा है। निष्कर्षतः अज्ञेय की दृष्टि मे " 'वास्तव मे उपन्यास के प्रतिचरित्र रेखा और चन्द्रमाधव है। रेखा भावना की सच्चाई के प्रति समर्पित है, चन्द्रमाधव सहज प्रवृत्ति की तृप्ति को ही अपना

उपन्यासकार अज्ञेय ने 'शेखर : एक जीवनी' मे भावना और सवेदना की गहनता-सघनता को व्यक्त करने के लिए भी कथोपकथन को प्रयुक्त किया है। ऐसी स्थिति मे इस प्रकार के कथोपकथन की प्रकृति अधिकाशतया आन्तरिक बन गई है। इससे, स्वभावतया वे कथोपकथन अति भावुकतापरक और सूक्ष्म रूप धारण कर लेते हैं। उदाहरण के बतौर निम्नाकित पक्तियो को उद्धृत कर सकते है :

'शशि, दर्द होता है ?'

× × ×

'बताओ, शशि, क्यो, क्या होता है ? क्या होता है '

'सुख, शेखर, सुख ।'[1]

इसी प्रकार एक और भी उदाहरण द्रष्टव्य है .

'तुमने क्या निश्चय किया, शेखर ?'

'मुझे आवश्यकता नही पडी—तुम फिर आ गई—तुम मेरे जीवन मे चली आई—मैं नही जानता था कि किसके लिये लडूँ, पर तुम मेरे पास थी, तुम्हारे लिए मैं लडने लगा—या उद्योग करने लगा लडने का। शशि, मैं निरन्तर सघर्ष करता आया हूँ—तुमसे भी लडता आया हूँ, पर अब स्वीकार करता हूँ कि मैंने तुम्हे प्यार किया है। लडने मे अपना श्रेष्ठतम मैं देता आया हूँ, क्योकि मैंने तुम्हारे लिये दिया है। बीच मे शका हुई थी कि यह आदर्श घटिया है, फिर दूर हो गई, क्योकि तुम किसी कोरे आदर्श से कम नही थी किन्तु मेरे भीतर एक भूख जागी, और उससे फिर एक नया सन्देह · शशि, क्या मैंने पाप किया है ?'

'शेखर, मैंने सदा तुम्हे प्यार किया है। पाप मैंने कभी नही किया ।'[2]

एक बात इस सन्दर्भ मे और भी विशेष रूप से यह कहनी है कि 'शेखर . एक जीवनी' के कथोपकथन मे उद्धरण-शैली की भरमार है। पात्र दूसरे कवियो—लेखकों की पक्तियो को अपनी पुष्टि के लिए बार-बार उद्धृत करते हैं। वस्तुतः यह प्रभावातिशयता तथा मोह की तन्मयता पात्रो की न होकर, स्वय उपन्यासकार की अपनी है।

नदी के द्वीप, 'शेखर : एक जीवनी' की ही भाँति 'नदी के द्वीप' के कथोपकथन (सवाद) भी एक ओर कथानक को अग्रसर करते तथा दूसरी ओर पात्रो के चरित्र

1 शेखर एक जीवनी, भाग दो, पृ॰ 243
2 वही, भाग दो, पृ॰ 242

होता है और दूसरी बात जो विशेष महत्त्वपूर्ण है, वह यह कि इसके माध्यम से पात्रों का चरित्र अधिक स्पष्टता से व्यक्त होता है। अज्ञेय के तीनो ही उपन्यासो में कथोपकथन का निरूपण और उपस्थापन लगभग इसी दृष्टि से किया गया है। चूँकि इनके उपन्यासो मे मनोविश्लेषण का प्राधान्य है, अत कथोपकथन अधिक कारगर प्रतीत होते हैं। हाँ, इतनी बात जरूर है कि इनके पात्रो के कथोपकथन लम्बे कम, छोटे अधिक हैं। पर छोटे-बडे दोनो प्रकार के कथोपकथनो का नियोजन उनकी औपन्यासिक कृतियो मे उपलब्ध होता है।

'शेखर : एक जीवनी' मूलत आत्मकथात्मक उपन्यास है। अत इसम आत्म-विश्लेषण की गुजायश अधिक है और साथ ही आत्म-सभाषण की भी। जैसे, एक स्थल पर शेखर कहता है 'आत्मकथा लिखना एक प्रकार का दम्भ है—उसमे यह अहकार है कि मेरे जीवन में कुछ ऐसा है जो कथनीय है, देय है, रक्षणीय है, स्मरणीय है हो सकता है कि ऐसा हो, किन्तु व्यक्ति स्वय यह दावा करने वाला कौन होता है ? भूसी स्वय नही कहती कि यह देखो, मेरी कोख मे प्राणद अन्न है—यह अन्न दूसरे की देह मे बल बनकर बोलता है •

किन्तु क्या मैं ऐसे ही आत्मकथा लिख रहा हूँ ? क्या यह आत्म-प्रकाशन है ? क्या अब भी मेरा मर्म नही कहता कि 'जो मेरा है, जो सारभूत है, जिसमे मैं सिक्त और अभिषिक्त हूँ, उसे छिपा लो !'[1]

एकाधिक पात्रो के पारस्परिक सभाषण अथवा कथोपकथन के माध्यम से भी कथा का विकास होता है और साथ ही साथ पात्रो के व्यक्तित्व पर प्रकाश पडता है। 'शेखर एक जीवनी' से कतिपय उदाहरण उद्धृत किये जा सकते हैं :

शेखर ने सरस्वती से पूछा, 'मरते कैसे हैं ?'

'मर जाते हैं, और क्या ?'

'मरकर क्या होता है ?'

'पागल ! जान नही रहती, चल-फिर-बोल नही सकते, तब ले जाकर जला देते हैं।'

'डूबने से ऐसे ही मर जाते हैं ?'

'हाँ।'

'क्यो मरते हैं ?'

'साँस बन्द हो जाती है, तब जान निकल जाती है।'[2]

1 'शेखर एक जीवनी' भाग दो, पाँचवा सस्करण, पृ० 202 203

2 'शेखर एक जीवनी', प्रथम भाग पृ० 83

उपन्यासकार अज्ञेय ने 'शेखर : एक जीवनी' में भावना और संवेदना की गहनता-सघनता को व्यक्त करने के लिए भी कथोपकथन को प्रयुक्त किया है। ऐसी स्थिति में इस प्रकार के कथोपकथन की प्रकृति अधिकांशतया आन्तरिक बन गई है। इसमें, स्वभावतया वे कथोपकथन अति भावुकतापरक और सूक्ष्म रूप धारण कर लेते हैं। उदाहरण के बतौर निम्नांकित पंक्तियों को उद्धृत कर सकते हैं :

'शशि, दर्द होता है ?'

× × ×

'बताओ, शशि, क्यों, क्या होता है ? क्या होता है…'

'चुप, शेखर, चुप · ।'[1]

इसी प्रकार एक और भी उदाहरण द्रष्टव्य है :

'तुमने क्या निश्चय किया, शेखर ?'

'मुझे आवश्यकता नहीं पड़ी—तुम फिर आ गईं—तुम मेरे जीवन में पसी आईं—मैं नहीं जानता था कि किसके लिये लड़ूँ, पर तुम मेरे पास थीं, तुम्हारे लिए मैं लड़ने लगा—या उद्योग करने लगा लड़ने का। शशि, मैं निरन्तर संघर्ष करता आया हूँ—तुमसे भी लड़ता आया हूँ, पर अब स्वीकार करता हूँ कि मैंने तुम्हें प्यार किया है। लड़ने में अपना श्रेष्ठतम मैं देता आया हूँ, क्योंकि मैंने तुम्हारे लिये दिया है। बीच में शंका हुई थी कि यह आदर्श घटिया है, फिर दूर हो गई, क्योंकि तुम किसी कोरे आदर्श से कम नहीं थीं…किन्तु मेरे भीतर एक भूख जागी, और उससे फिर एक नया सन्देह…शशि, क्या मैंने पाप किया है ?'

'शेखर, मैंने सदा तुम्हें प्यार किया है। पाप मैंने कभी नहीं किया।'[2]

एक बात इस सन्दर्भ में और भी विशेष रूप से यह कहनी है कि 'शेखर : एक जीवनी' के कथोपकथन में उद्धरण-शैली की भरमार है। पात्र दूसरे कवियों—लेखकों की पंक्तियों को अपनी पुष्टि के लिए बार-बार उद्धृत करते हैं। वस्तुतः यह प्रभावातिशयता तथा मोह की तन्मयता पात्रों की न होकर, स्वयं उपन्यासकार की अपनी है।

नदी के द्वीप, 'शेखर : एक जीवनी' की ही भाँति 'नदी के द्वीप' के कथोपकथन (संवाद) भी एक ओर कथानक को अग्रसर करते तथा दूसरी ओर पात्रों के चरित्र

1 शेखर एक जीवनी, भाग दो, पृ० 243
2 वही, भाग दो, पृ० 242

होता है और दूसरी बात जो विशेष महत्त्वपूर्ण है, वह यह कि इसके माध्यम से पात्रों का चरित्र अधिक स्पष्टता से व्यक्त होता है। अज्ञेय के तीनों ही उपन्यासों में कथोपकथन का निरूपण और उपस्थापन लगभग इसी दृष्टि से किया गया है। चूँकि इनके उपन्यासों में मनोविश्लेषण का प्राधान्य है, अत कथोपकथन अधिक कारगर प्रतीत होते हैं। हाँ, इतनी बात जरूर है कि इनके पात्रों के कथोपकथन लम्बे कम, छोटे अधिक हैं। पर छोटे-बड़े दोनों प्रकार के कथोपकथनों का नियोजन उनकी औपन्यासिक कृतियों में उपलब्ध होता है।

शेखर एक जीवनी' मूलत आत्मकथात्मक उपन्यास है। अत इसमें आत्म-विश्लेषण की गुंजायश अधिक है और साथ ही आत्म-सभाषण की भी। जैसे, एक स्थल पर शेखर कहता है 'आत्मकथा लिखना एक प्रकार का दम्भ है—उसमें यह अहकार है कि मेरे जीवन म कुछ ऐसा है जो कथनीय है, देय है रक्षणीय है, स्मरणीय है हो सकता है कि ऐसा हो किन्तु व्यक्ति स्वयं यह दावा करने वाला कौन होता है ? भूसी स्वय नहीं कहती कि यह देखो मेरी कोख म प्राणद अन्न है—यह अन्न दूसरे की देह मे रक्त बनकर बोलता है

किन्तु क्या मैं ऐसे ही आत्मकथा लिख रहा हूँ ? क्या यह आत्म प्रकाशन है ? क्या अब भी मेरा मर्म नहीं कहता कि 'जो मेरा है जो सारभूत है जिसमे मैं सिक्त और अभिषिक्त हूँ, उसे छिपा लो !'[1]

एकाधिक पात्रों के पारस्परिक सभाषण अथवा कथोपकथन के माध्यम से भी कथा का विकास होता है और साथ ही साथ पात्रों के व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। 'शेखर एक जीवनी' से कतिपय उदाहरण उद्धृत किये जा सकते हैं

शेखर ने सरस्वती से पूछा, 'मरते कैसे हैं ?'

'मर जाते हैं, और क्या ?'

'मरकर क्या होता है ?'

'पागल ! जान नहीं रहती, चल फिर-बोल नहीं सकते, तब ले जाकर जला देते हैं।'

'डूबने से ऐसे ही मर जाते हैं ?'

हाँ।'

'क्या मरते हैं ?'

साँस बन्द हो जाती है, तब जान निकल जाती है।'[2]

1 शखर एक जीवनी भाग दो पाँचवा सस्करण पृ० 202 203

2 'शखर एक जीवनी प्रथम भाग पृ० 83

मैंने (योके ने) रुखाई से कहा - 'क्योंकि वही एकमात्र सच्चाई है—क्योंकि हम सबको मरना है।'[1]

प्रस्तुत उपन्यास के कथोपकथन मे आत्म सभापण का भी बहुविध प्रयोग किया गया है। जैसे 'मैं अगर ईश्वर को नहीं मान सकती तो नही मान सकती, और अगर ईश्वर मृत्यु का ही दूसरा नाम है तो मैं उसे क्यो मानूं ? मैं मृत्यु को नहीं मानती, नही मान सकती, नही मानना चाहती ! मृत्यु एक झूठ है, क्योंकि वह जीवन का खण्डन है। और मैं जीती हूँ और जानती हूँ कि मैं जीती हूँ। कभी ऐसा होगा कि जीती न रहूँगी—लेकिन जब नहीं रहूँगी तब यह जानने वाला भी कौन रहेगा कि मैं जीवित नही हूँ—कि मैं मर चुकी हूँ ? मौत दूसरो की ही हो सकती है, जिनका होना और न होना दोना ही हम जान सकते हैं—या मानते हैं। लेकिन अपनी मृत्यु का क्या मतलब है ? यह केवल दूसरे को देखकर लगाया हुआ एक अनुमान है—कि दूसरे के साथ ऐसा हुआ इसलिए हमारे साथ भी होगा।'[2]

स्पष्ट है कि 'अपने-अपने अजनबी' के कथोपकथन मे दार्शनिकता, बौद्धिकता और तार्किकता का एकजुट प्रयोग मिलता है। इस प्रायोगिकता की सफलता के मूल मे उपन्यासकार अज्ञेय की सर्जनात्मक भाषा अधिक सक्रिय है।

देशकाल अथवा वातावरण

उपन्यास मे कोई-न-कोई कथात्मक सघटना होती है। कथा किसी व्यक्ति, वर्ग या समाज की होती है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासो मे कथा क्षीण और गौण होती है। उसम प्रमुखता होती है—व्यक्ति-चरित्र के विश्लेषण के उद्घाटन की। व्यक्ति पर वातावरण या उसके परिवेश का बेहद प्रभाव पडता है। वुडवर्थ (Woodworth) व्यक्ति को वशानुक्रम (Heredity) और वातावरण (Environment) का गुणनफल मानता है। इसका मानी है कि व्यक्ति के निर्माण और विकास म उसके वातावरण अथवा परिवेश का बहुविध महत्त्व होता है। अत उपन्यासकार से यह पूरी तरह अपेक्षा की जाती है कि पात्रो के व्यक्तित्व-निर्धारक परिवेश को भी ठीक-ठीक विन्यस्त करे। पात्रो के व्यक्तित्व और चरित्र-विश्लेषण तथा उसके मूल्याकन के लिए देशकाल और वातावरण नितान्त रूप से सहायक होता है। इस दृष्टि से अज्ञेय के उपन्यासो के देशकाल और वातावरण पर विचार करें।

1 अपने-अपने अजनबी, तृतीय सस्करण, पृष्ठ 24
2 वही, पृ० 50

को इंगित व व्यञ्जित करते है। 'नदी के द्वीप' प्रेममूलक उपन्यास है। अत: इसके कथोपकथन अधिकांशत: एतद् भावों के ज्ञापक हैं। जैसे 'पगली, चांदनी बहुत है, सब पी न सकोगी। चलो, जमी जा रही हो ठंड से—ऐसे तो तुम्ही चाँदनी हो जाओगी!' और 'मुड तो गये, यह भी जानते हो कि किधर जाना है ?'

भुवन ने भोलेपन से कहा, 'न, तुम ले जा रही हो, मैं जा रहा हूँ। दैट इज ऑल आई नो एण्ड नीड टु नो।'

'शेखर : एक जीवनी' के पात्रो की तरह 'नदी के द्वीप' के पात्र भी उद्धरणो का बहुविध प्रयोग करते हैं। जैसे, रेखा एक जगह कहती है :

'ग्रीफ, ग्रीफ, आइ स्पोज एण्ड सफीशेंट
ग्रीफ मेक्स अस फ्री
टु बी फेथलेस एण्ड फेथफुल टुगेदर
ऐज़ वी ऑल हैव टु बी।'[1]

'नदी के द्वीप' मे प्रयुक्त कथोपकथनो मे वैविध्यता का दर्शन होता है। इसमे कही तो प्रत्याह्वान के द्वारा स्मृति शैली मिलती है, कही लेखन-शैली और कहीं-कहीं (डॉ० रणवीर राग्रा के शब्दों मे) 'आतरायिक' (इण्टरमिटेन्ट) शैली उपलब्ध होती है। इस दृष्टि से 'नदी के द्वीप' के कथोपकथन (सवाद) मे परम्परा मुक्त शैली का बहुविध प्रयोग मिलता है।

अपने-अपने अजनबी 'अपने-अपने अजनबी' परस्पर दो विरोधी दर्शन, चिन्तन-दृष्टि और उपपत्तियो का उपन्यास है और इसके दोनों पात्रो के माध्यम से इन परस्पर विरोधी भावो को अभिव्यक्ति मिली है। इसके दोनो पात्र—सेल्मा और योके मांसल कम, मानसिक अधिक हैं। अत इनके कथोपकथनो (सवादो) मे अतिरिक्त तार्किकता मिलती है। इनके द्वारा भाषिक कथोपकथनो का प्रयोग बहुत कम होता है। जहाँ होना भी है, वहाँ अपनी-अपनी चिन्तन दृष्टि की पुष्टि के लिये ही। किन्तु एक बात यह है कि इन कथानको की शाब्दिक देह तो छोटी होती है, पर अर्थ म गाम्भीर्य और विस्तार अधिक होता है। अन्तत इसके कथोपकथन (सवाद) मनोवैज्ञानिकता, दार्शनिकता, बौद्धिकता और तार्किकता से परिपूर्ण हैं। उदाहरण के लिये सेल्मा और योके के इस वार्तालाप को देख सकते है -

'बुढिया ने पूछा : 'योके, तुम्हारा ध्यान हमेशा मृत्यु की ओर क्यो रहता है ?'

1 नदी के द्वीप, पृ० 262

जीवन के चित्रो के माध्यम से समसामायिक युवको की कर्मठता, सघर्षशीलता, राष्ट्रीय चेतना, सामाजिकता तथा सुधारवादी मनोवृत्तियो को विवेचित-विश्लेषित किया गया है। शिक्षण-सस्थाओ से निकल कर जीवन मे प्रवेश करने के बाद जीविकोपार्जन के लिए जिन कठिनाइयो का सामना करना पडता है, उसको स्पष्टत: इगित किया गया है, साथ ही सम्पादको और प्रकाशको की शोषण-नीति का भी प्रकारान्तर से अनुभूति के स्तर पर पर्दाफाश किया गया है। इस प्रकार देश-काल और वातावरण के चित्रण की दृष्टि से 'शेखर . एक जीवनी' की सफलता निर्विवाद और स्वयसिद्ध है।

नदी के द्वीप : 'नदी के द्वीप' मूलत· रोमन्टिक उपन्यास है। अत: सवेदना, भावना, अनुभूति और सवेग की बुनावट से यह निर्मित है। काल की दृष्टि से यह स्वातन्त्र्योत्तर युग (सन् 1952 ई०) की रचना है। पर स्वातन्त्र्योत्तर मनोवृत्तियो अथवा परिवेशो का इसमे कोई स्पष्ट चित्र नही उपलब्ध हो पाता। वस्तुत. 'नदी के द्वीप' अपने पूरे वृत्त और अर्थ मे आधुनिक उपन्यास है। अत इसमे आधुनिकता के आभिजात्य को सवेदना, अनुभूति और चिन्तन के स्तर पर स्वीकार और व्यक्त किया गया है। इसकी कथा का सम्बन्ध द्वितीय विश्व युद्ध से अवश्य है, किन्तु उसका कोई स्पष्ट और जीवन्त चित्र उपन्यास मे दिखाई नही पडता। इसका नायक दूसरे विश्व-युद्ध के वर्मा के सीमान्त प्रदेश मे भी भाग लेता है, किन्तु उपन्यास मे उससे कोई महत्त्वपूर्ण धारणा और दृष्टि नही बनती। अन्तत यही कहा और माना जा सकता है कि विवेच्य उपन्यास मे देश-काल और वातावरण का प्रयोग परम्परित रूप मे न होकर, आधुनिकता के आभिजात्य की अभिव्यक्ति के नवीन रूपो में हुआ है। कुलमिलाकर यह कहा जा सकता है कि 'नदी के द्वीप' मे आभिजात्य वातावरण को चुना और अभि-व्यक्त किया गया है।

अपने-अपने अजनबी : 'अपने-अपने अजनबी' की घटना विदेशी है, पात्र और वातावरण विदेशी हैं। लेकिन व्यापक दृष्टि से विचार करने पर लगता है कि यह उपन्यास किसी विशेष देश-काल और वातावरण की सीमा को स्वीकार नहीं करता। वस्तुत· इसमे उपन्यासकार का अभीष्ट कहानी गढना या कहना न होकर चिन्तन-दर्शन और प्रत्ययो का सम्प्रेषण भर करना है। बर्फ से घिरे कब्रनुमा काष्ठ-गृह, पुल पर बसे एक बाजार तथा एक किसी ऐसे शहर की चर्चा है, जिस पर जर्मनो का आधिपत्य है। फिर भी, इससे किसी देशकाल या वातावरण पर कोई सुनिश्चित प्रकाश नहीं पड़ता। इसलिए पाठको की एतद्-सम्बन्धी जिज्ञासा का अन्त

शेखर : एक जीवनी : काल की दृष्टि से अज्ञेय का *'शेखर : एक जीवनी'* स्वातन्त्र्य-पूर्व लिखित व प्रकाशित उपन्यास है। जिन दिनो यह उपन्यास लिखा जा रहा था, उन दिनो सघर्ष का तूफान जोरो पर था। हर जगह अशान्ति का वातावरण बना हुआ था। ऐसे ही सघर्ष और अशान्त देशकाल और वातावरण मे *'शेखर : एक जीवनी' का लेखन प्रकाशन हुआ। अत: स्वाभाविक है कि इसमे* सघर्ष, विद्रोह और अहमन्यता हो और है भी। इसका एक और भी सबसे बडा और सशक्त कारण यह है कि लेखक अज्ञेय का भी वडा सघन और गहरा सम्बन्ध स्वतन्त्रता-आन्दोलन से रहा है। अत. भोगे हुए उन महत्वपूर्ण अनुभवो को उन्होने इस उपन्यास मे सम्प्रेषित करने का प्रयास किया है। यही कारण है कि 'शेखर : एक जीवनी' मे व्यक्त अनुभव स्वय उपन्यासकार अज्ञेय के सघर्षरत अनुभवो के 'शेड्स' के रूप मे विन्यस्त हो सके हैं और कही-कही तो ऐसा लगता है कि उपन्यास मे व्यक्त अनुभव 'शेखर' के न होकर स्वय अज्ञेय के है। मेरी दृष्टि मे, यही अज्ञेय की अनुभूतिगत ईमानदारी का सबसे वडा सबूत भी है। स्वातन्त्र्य-पूर्व भारत मे परिव्याप्त अन्धविश्वास, रूढिवादिता, जातिवाद, स्वार्थपरता, राष्ट्रीयता तथा सघर्षशीलता आदि को उपन्यासकार ने इस उपन्यास मे उरेहने का प्रयास किया है। लहरों के झंझावात से जैसे नदी के तट और किनारे कट-फट जाते हैं, वैसे ही सघर्ष, क्रान्ति और विद्रोह के तूफानी परिवेश मे व्यक्ति-मन आक्रान्त होकर, कुण्ठा और सत्रास से बोझिल बन जाता है। इसका परिणाम है : टूटन-घुटन और समग्रत: व्यक्तित्व का खण्डन। सघर्ष और विद्रोह के कारण व्यक्ति समाज से कटता हुआ अपने-आप मे सिमटता गया—अपने-आपको अपने ही घरौन्दे मे समेटता गया, जिसकी परिणति-व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन मे हुई। 'शेखर : एक जीवनी' मे, इसीलिए व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन और मनोविज्ञान को अधिकाधिक महत्ता प्राप्त हुई है। उसमे 'शेखर' की वैयक्तिक अनुभूति और सवेदना की प्रधानता तो है ही किन्तु युग, परिवेश और समाज का बिम्ब भी काफी गहरा उतरा है। अज्ञेय के शब्दो मे : **"शेखर निस्सन्देह एक व्यक्ति का अभिन्नतम निजी दस्तावेज, a record of personal suffering है, यद्यपि वह साथ ही उस व्यक्ति के युगसंघर्ष का प्रतिबिम्ब भी है। इतना और ऐसा निजी वह नहीं है कि उसके दावे को आप 'एक आदमी की निजी बात' कहकर उड़ा सकें; मेरा आग्रह है कि उसमें मेरा समाज और युग बोलता है कि वह मेरे और शेखर के युग का प्रतीक है···।"**[1] स्पष्ट है कि 'शेखर : एक जीवनी' मे वैयक्तिक चेतना के साथ ही साथ सामाजिक परिवेश को भी रेखांकित किया गया है। शेखर के कॉलेज-

1 शेखर : एक जीवनी, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० 10

स्वघातिनी ही हो सकती है।-यह स्पष्ट कहा नही गया, पर 'लेखक के उद्देश्य' मे निहित अवश्य है कि पश्चिम की दृष्टि ऐसी ही दृष्टि है।[1]

उपर्युक्त विवेचन और अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञेय का उद्देश्य अपने उपन्यासो मे जडीभूत और निष्क्रिय परम्परा को नकार कर, नये दृष्टिकोण तथा मानव मूल्यो की खोज और स्थापना करना है। इसम उन्हें सफलता भी काफी हद तक प्राप्त हुई है।

ऊपरोक्त सारी बातें और चर्चा तो दृष्टिकोण, उपपत्ति और मान्यताओ से सम्बद्ध है। अभी-अभी हम इस निष्कर्ष-विन्दु तक पहुँच चुके है कि उपन्यासकार अज्ञेय को अपने दृष्टिकोण और सिद्धान्त क निरूपण मे बेहद सफलता हासिल हुई है यानी वस्तु और विषय से आवद्ध सफलता। उन्होने विषय निरूपण क लिए जिस भाषा और शिल्प का प्रयोग किया है, उस पर किंचित् विचार करें

अज्ञेय का भाषीय पक्ष काफी प्रबल है। इनकी रचनाओ मे भाव और प्रत्यय भाषा के साथ एक-रग होकर अभिव्यक्त होते है। इनके भाव महानता के जिस क्षितिज को छूते हैं, उनकी भाषा क्षितिज की छाती (वक्ष) पर आसनस्थ होती है। वस्तुत इनकी भावानुभूतियो के भीतर से भाषा का प्रस्फुटन होता है और दूसरी ओर भाषा इनकी रचनात्मक सवेदनाओ को ऊर्जा और प्राणवत्ता प्रदान करती है। अज्ञेय सतत् रूप से 'अच्छी भाषा' की तलाश करते रहते हैं, क्योकि वही इनकी सिद्धि है। इनका कहना है 'मै उन व्यक्तियो मे से हूँ—और ऐसे व्यक्तियों की सख्या शायद दिन-प्रतिदिन घटती जा रही है—जो भाषा का सम्मान करते हैं और अच्छी भाषा को अपने आप मे एक सिद्धि मानते हैं।'[2]

ये विषय और वस्तु के अनुरूप ही भाषा का प्रयोग करते है। यही कारण है कि रचनात्मक सदर्भों मे इनकी भाषा नयी अर्थवत्ता ग्रहण व व्यक्त करती है। स्वय ये मानते हैं कि "अज्ञेय की भाषा सर्वत्र सयत रहती हुई विषय और वस्तु के साथ काफी बदलती रहती है।"[3] इससे साफ जाहिर है कि भाव और भाषा इनकी रचनाओ मे सिक्के के दो पहलू है, जिनकी मूल्यवत्ता परस्पर एक दूसरे को लेकर ही सुरक्षित है। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी क शब्दो मे—"अज्ञेय ने मानवीय व्यक्तित्व की व्याख्या मे भाषा को अनिवार्य तत्त्व माना है। भाषा उनके लिए माध्यम नहीं, अनुभव ही है। उन्होंने भाषा और अनुभव के अद्वैत को स्थापित करने का यत्न किया है।"[4]

1 अज्ञेय हिन्दी-साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य पृ० 130
2 अज्ञेय आत्मनेपद पृ० 240।
3 हिन्दी-साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य, पृ० 108
4 डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी' हिन्दी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियाँ, पृ० 7

तक परिशमन नहीं हो पाता। यह अज्ञेय के लिए न काम्य है, न ही चिन्त्य। अज्ञेय न परम्परित लेखक हैं और न उनका लेखन अभिधामूलक है। अत देशकाल और वातावरण की लीक की उनसे अपेक्षा करना भी व्यर्थ है। अपने लेखन में उनका पूरा-का-पूरा जोर 'वस्तु' और उसके 'कथ्य' पर ही रहा है। अत पाठकों के लिए भी अपेक्षित है—उपन्यास के केन्द्रीय दृष्टिकोण, प्रत्यय और समग्रत 'कथ्य' का ग्रहण और अवबोधन करना।

अज्ञेय आधुनिक सन्दर्भों मे 'नये दृष्टिकोण', 'प्रायोगिक सन्धान' और मानव-मूल्यों के अन्वेषण' पर बहुविध बल देते हैं। वे व्यक्ति के वाह्य क्रिया-कलाप पर जोर न देकर, आभ्यन्तर मन के विश्लेषण और उद्घाटन मे अधिक रुचि लेते हैं। 'शेखर एक जीवनी' मे कथा नायक शेखर के विद्रोही व्यक्तित्व को विश्लेषित किया गया है। साथ ही सामाजिक परिप्रेक्ष्य मे उसकी जीवन-प्रक्रिया को विभिन्न कोणों पर विवेचित किया गया है। उपन्यासकार अज्ञेय का यह परिकथन कि '*शेखर की खोज अन्ततोगत्वा स्वातन्त्र्य की खोज है*'[1]—इसकी सोद्देश्यता को ही प्रकाशित करता है। स्पष्ट है कि 'शेखर. एक जीवनी' म उपन्यासकार का उद्देश्य 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की खोज' करना रहा है।

'नदी के द्वीप' म भी व्यक्ति मन को उद्घाटित करने का ही प्रयास किया गया है। 'शेखर एक जीवनी' में निहित उद्देश्य 'स्वातन्त्र्य की खोज', 'नदी क द्वीप' *मे आकर* 'मुक्ति' (*Freedom*) *का रूप धारण कर लेती है। वस्तुत यह* 'मूर्त्त' का अमूर्त्त की ओर प्रयाण है।

'अपने-अपने अजनबी' मे व्यक्ति के वरण स्वातन्त्र्य को लक्षित किया गया है। अज्ञेय का उद्देश्य इस उपन्यास के माध्यम से यह बतलाना और अभिव्यक्त करना है कि व्यक्ति को वरण की स्वतन्त्रता नहीं है। मृत्यु ही अन्तिम सत्य है, जिसको स्वीकारना हमारी बेबसी है। मृत्यु सबसे बडा अजनबी है, फिर भी हम उसका वरण करना ही पडता है। अज्ञेय ने एक स्थल पर लिखा है 'व्यक्ति के वरण-स्वातन्त्र्य की—अह की परितुष्टि खोजने के अधिकार की विशद् चर्चा एक उपन्यास ('अपने अपने अजनबी') मे की गई है। *यहाँ भी सिद्धान्त यही है कि दुर्दम दावेदार अह के लिए वरण का एक ही मार्ग खुला हो सकता है—मृत्यु के वरण का, यही उसका अन्तिम दावा हो सकता है। अह की परितुष्टि का अधि*-कार मान्य समझा गया है। पर यह भी स्पष्ट कहा गया है कि वह अनिवार्यतया

1 आत्मनेपद, पृ० 66

(4) उद्धरण शैली
(5) प्रत्यक्-दर्शन शैली
(6) चेतना-प्रवाह शैली तथा
(7) स्वप्न (विश्लेषण) शैली

इनके अतिरिक्त उनके उपन्यासो मे चलचित्र-निर्माण की 'क्लोज अप' (Close up) तथा 'स्लो अप' (Slow up) शैली का भी यथावसर प्रयोग किया गया है। डॉ० देवराज उपाध्याय ने इसे विश्लेपित करते हुये लिखा है 'प्रतीकात्मक अनुभूतियो के मानसिक आत्मनिष्ठ तत्त्वो की विवृत्ति मनोवैज्ञानिक उपन्यासो की विशिष्टता है। पर इस मानसिक तत्त्व का पूर्ण परिचय उस समय नही प्राप्त होता, जबकि मनुष्य को प्रवृत्त करने वाली बाह्य वस्तु (Stimulus) के आघात से प्रतिक्रिया (Response) मे प्रवृत्त हो जाये। न ही, इस तत्त्व का दर्शन प्रवर्त्तक-वस्तु और उसके आघात मे उत्पन्न प्रतिक्रिया के माध्यम मे पडने वाले अवसर जबकि मनुष्य का अन्तस् आन्दोलित होता है, के समय हो सकता है। जीवन मे इन दोनो के मध्य पडने वाली अवधि अत्यन्त अल्प तथा नगण्य मालूम पडती है और इसके वास्तविक रूप को देखना सहज नही। पर मनुष्य ने ऐसे अणुवीक्षण-यन्त्र आविष्कृत कर लिये हैं जिनके सहारे वह कीटाणुओ को हजारो गुणा बढा कर देख सकता है। उपन्यासकार अपनी कल्पना और प्रतिभा के सहारे इस बीच मे पडने वाली अवधि को बढा कर उसका लेखा-जोखा ले सकता है और पाठको को भी इसमे सम्मिलित होने के लिये निमन्त्रित कर सकता है। 'नदी के द्वीप' मे इस कला का पूर्ण निदर्शन है।

'नदी के द्वीप' की कथा बहुत छोटी है। × × × पर इन बाहरी क्रियाओ के अन्तराल मे जो अवधि है, उसको कल्पना के अणुवीक्षण से विस्तृत रूप मे देखा गया है। अंग्रेजी में कहें तो कह सकते है कि (Infinite expansion of moment) अर्थात् एक लघु क्षण को दीर्घजीवी अनन्त बना कर देखा गया है। टेकनीक म अज्ञेय की कला चलचित्र-निर्माण की उस पद्धति से मेल खाती है, जिसे 'क्लोज अप' (Close up) और 'स्लो अप' (Slow up) कहते हैं। इन दोनो पद्धतियो के विचित्र सयोग से 'नदी के द्वीप' मे एक विचित्र सुन्दरता आ गई है, जो अन्य औपन्यासिको की रचना मे दुर्लभ है। × × × उस प्रसग का वर्णन जहाँ रेखा भुवन को जीवन का एस्टासी (Ectasy) देती है और स्वय अपने को तृप्त (Fulfilled) पाती है तथा उसके हेमरेज के प्रसग साहित्यिक क्लोज अप (Close up) के उद्धरण म आ सकते हैं।'[1]

1 डॉ० देवराज उपाध्याय आधुनिक हिन्दी-कथा साहित्य और मनोविज्ञान, पृष्ठ 184 186

इनके तीनों ही उपन्यासों में भाषा और भाव का अद्वैत-स्थापन मिलता है। डॉ० देवराज का यह परिकथन बिल्कुल सही है कि "अज्ञेय के उपन्यासों में हमारी भाषा एक अनोखी सादगी, स्वाभाविकता एवं स्वच्छता, कान्ति और परिपूर्णता लिए हुए दिखाई पडती है। उसका प्रत्येक शब्द मानो हाल ही मे टकसाल से ढलकर नई चमक तथा व्यजकता लेकर आगत हुआ है।"[1]

एक बात और! अज्ञेय की भाषा-सम्बन्धी सबसे बडी विशेषता यह है कि जिन शब्दो का इन्होने प्रयोग किया है, वह अनुकूल सदर्भों मे ही। यही कारण है कि इनके प्रयुक्त शब्दो के बदले किसी पर्यायवाची शब्दो का विन्यास करना अर्थ-संगत नही हो सकता। इस प्रकार, हम कह सकते है कि अज्ञेय की गहरी पैठ शब्दो की आत्मा तक वर्तमान है। इस दृष्टि से 'नदी के द्वीप' की भाषा-शैली के सम्बन्ध मे डॉ० देवराज के ये शब्द उद्धृत किये जा सकते हैं कि "सस्कृत तथा हिन्दी के बौपकार अभी तक पर्यायवाची शब्दो से परिचित रहे हैं, समानार्थक दीखने वाले शब्दो के अर्थों से 'शेड्स' के कितने अन्तर हो सकते हैं—कितने अन्तरो को देखा और प्रेषित किया जा सकता है—यह अनुभूति 'नदी के द्वीप' के पाठको को विशेष उपलब्ध होगी।"

अज्ञेय के उपन्यासो की भाषा मे कसावट और सामासिकता है। वे भाषा की लक्षणा और व्यजना शक्ति से अधिक काम लेते हैं। उनके शब्दो मे प्रसगो की साफगोई होती है। अर्थ की गरिमा और गभीरता उनकी भाषा की सबसे बडी विशेपता है। उनके भाव भाषा की तलाश नही करते। अत उनमे एक विशेष प्रकार की सहजता होती है। भाषा की तराश उनमे अवश्य मिलती है, जो आयासिक न होकर उनके सस्कारो से नि सृत होती है। भाषा के धरातल पर अज्ञेय प्रतीक, बिम्ब और चित्रात्मकता से काम बहुत लेते हैं। यही कारण है कि उनके 'कथ्य' और 'अर्थ' छन छनकर अभिव्यक्त होते हैं।

शिल्प—अज्ञेय मानव-मन के आभ्यन्तर के कथा-शिल्पी हैं। अत. इन्होने अपने उपन्यासो मे 'वस्तु' अथवा 'कथ्य' क क्षेत्र मे ही नही, प्रत्युत् शिल्प के प्रति भी प्रोयोगिक अन्वेषण किया है। इसका एक बहुत बडा कारण उसकी मनो-वैज्ञानिकता भी है। उपन्यासकार अज्ञेय ने अपने उपन्यासो मे जिन शैलियो को प्रयुक्त किया है, उनमे निम्नाकित शैलियाँ मुख्य हैं

(1) आत्मा-विश्लेषणात्मक शैली
(2) पत्रात्मक शैली
(3) डायरी प्रधान शैली

1 डॉ० देवराज आधुनिक समीक्षा प्रथम संस्करण पृष्ठ 138

अस्तित्ववाद मे काल-सत्य को 'क्षण' में ही माना गया है। क्षण ही सब कुछ है। अज्ञेय ने 'अपने-अपने अजनबी' (पृ० 21) मे लिखा है : "क्षण वही है जिसमे अनुभव तो है लेकिन जिसका इतिहास नही है, जिसका भूत, भविष्य कुछ नही है, जो शुद्ध वर्तमान है, इतिहास से परे, स्मृति के ससर्ग से अदूषित, ससार से मुक्त। क्षण परम्परामुक्त होना चाहिए।" स्पष्ट है कि अज्ञेय के उपन्यासो पर एक ओर बौद्ध दर्शन का प्रभाव पुरजोर तौर पर लक्षित होता है, तो दूसरी ओर अस्तित्व-वाद का। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी के मतानुसार, "अतित्वाद से अज्ञेय ने कुछ बौद्धिक उत्तेजना पायी हो, पर अपने समूचे उत्तरकालीन कृतित्व म लेखक का यत्न यही रहा है कि भारतीय परिस्थितियो मे अस्तित्ववाद से कोई बडी और अधिक सगत दृष्टि विकसित की जाये।"[1] पुन वे आगे लिखते हैं : "अज्ञेय के इस चिन्तन मे जीवन-प्रियता के भारतीय आधार को ईसाई आस्था—विशेषत. इटली के 'परिपक्व वीरे' मठ की प्रेरणा—और जापान की जेनपद्धति ने भी किसी सीमा तक समृद्ध किया है और बाह्य प्रभावो को रचनात्मक भाव से आत्मसात् करने के लिए लेखक बराबर प्रस्तुत रहा है।"

स्पष्ट है कि अज्ञेय के उपन्यासो पर बौद्ध दर्शन तथा अस्तित्ववाद का एक-जुट प्रभाव है। इनके अतिरिक्त उन्होंने ब्राउनिंग, डी० एच० लारेन्स, बर्गसाँ, सार्त्र तथा कीर्केगार्द आदि से भी प्रेरणा ग्रहण की है। सिगमण्ड फ्रायड के मनो-विश्लेपणवाद का तो गहरा प्रभाव इनके उपन्यासो की चेतना के पोर-पोर मे सम्पृक्त है। फलत इनके उपन्यासो के रग-रग से मनोवैज्ञानिक सचेतनता प्रस्फुटित होती है। रोम्याँ रोला के 'ज्याँ क्रिस्ताफ' के साथ इनके शेखर की तुलना की जाती रही है, जिसके सम्बन्ध मे इनका स्पष्टीकरण देखा जा सकता है. 'ज्याँ क्रिस्ताफ' के अनवरत आत्मशोध और आत्म-साक्षात्कार का जो चित्र रोलाँ ने प्रस्तुत किया है, उससे मुझे अवश्य प्रेरणा मिली : लेकिन न तो 'शेखर' उपन्यास 'ज्याँ क्रिस्ताफ' जैसा उपन्यास है, न 'शेखर' वैसा पात्र है। समानता इतनी ही है कि जैसे 'क्रिस्ताफ' मे लेखक एक आत्मान्वेषी के पीछे उसका चित्र खीचता चलता है, वैसे ही मैं दूसरे आत्मान्वेषी के पीछे चला हूँ। 'क्रिस्ताफ़' मे सर्वत्र उपन्यास-कार अन्य पुरुष मे लिख रहा है, शेखर का रूप उत्तम पुरुष मे लिखी गई आत्म-कथा का है, लेकिन यह तो तत्र यानी टेक्नीक की बात है।"[2] इनके उपन्यासो पर अनेक प्राच्य और पाश्चात्य लेखको का प्रभाव लक्षित होता है, किन्तु यह दूषण (?) भी अज्ञेय के उपन्यासो मे स्यात् भूषण बनकर 'सौन्दर्य' का व्यजन

1 'हिन्दी-साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियाँ, पृ० 5
2 अज्ञेय 'आत्मनेपद', पृ० 64

अधिक हिमायती हैं। बौद्धिकता और मनोवैज्ञानिकता उनकी रचना-प्रक्रिया के विशिष्ट तत्व हैं।

अज्ञेय के उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक सचेतना का प्राबल्य है। बौद्धिकता और चिन्तनशीलता उनके उपन्यासों की रीढ़ की हड्डी है। उनमें दार्शनिक की-सी तार्किकता और विश्लेषण-क्षमता है। उनके उपन्यासों में चिंतन की उभार अधिक है। वे सदैव बड़े प्रत्ययों (Great Ideas) के ग्रहण में विश्वास करते हैं। जहाँ तक दार्शनिक चेतना का प्रश्न है, अज्ञेय के उपन्यासों में भारतीय बौद्ध दर्शन तथा पश्चिमी अस्तित्ववाद का समीकरण उपलब्ध होता है। बौद्ध दर्शन के दु:खवाद की छाया इनके सारे उपन्यासों पर छा गई है। यह बात दूसरी है कि इनका यह दु:खवाद छायावादी काव्य के दु:खवाद अथवा पीडावाद से काफी मेल रखता है, क्योंकि स्रोत तो उनका वही है। उनका दु:खवाद 'क्रिश्चियन' 'सफरिंग' से भी प्रभाव ग्रहण करता है। 'नदी के द्वीप' में 'मुक्ति' की खोज का प्रयत्न है। यह खोज आत्मपीडन के मूल्य पर होती है और ऐसी ही स्पष्ट धारणा क्रिश्चियन-सफरिंग की भी है।

अज्ञेय के परवर्ती उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' पर अस्तित्ववाद का सीधा प्रभाव लक्षित होता है। अस्तित्ववाद व्यक्तिवादी दर्शन है। इसमें व्यक्ति के अस्तित्व को प्रमुखता दी गई है। ईश्वर की कल्पना निराधार है। कीर्कगार्द की घोषणा के अनुसार ईश्वर मर चुका है। व्यक्ति के 'अहम्' के अलावा और कुछ भी सत्य नहीं है। व्यक्ति के 'अस्तित्व' के लिये निर्वाचन अथवा चयन की स्वतन्त्रता है, और उसी के अनुसार वह फल का भोक्ता होता है। अस्तित्ववाद नकारवादी, निराशावादी और क्षणवादी दर्शन है, जो क्षण को ही सर्वेसर्वा मानता है। 'अपने-अपने अजनबी' में योके अपने 'अस्तित्व' को ही सब कुछ मानती और ईश्वर की मृत्यु की घोषणा करती हुई कहती है कि 'क्या ईश्वर भी मरा हुआ नहीं है?' प्रसिद्ध दार्शनिक देकार्त्त के इस कथन को कि 'मैं सोचता हूँ, इसलिये 'मैं' मैं हूँ', कीर्केगार्द पलट कर तार्किक ढंग से कहता है कि 'मैं हूँ, इसलिये मैं सोचता हूँ।' 'अपने-अपने अजनबी' में योके का तर्क भी कुछ इसी प्रकार का है। वह कहती है: "मृत्यु एक झूठ है, क्योंकि वह जीवन का खण्डन है। और मैं जीती हूँ और जानती हूँ कि मैं जीती हूँ। कभी ऐसा होगा कि मैं जीती न रहूँगी—लेकिन जब न रहूँगी तब यह जानने वाला भी कौन रहेगा कि मैं जीवित नहीं हूँ—कि मैं मर चुकी हूँ?" × × × अपनी मृत्यु का क्या मतलब है? वह केवल दूसरे को देखकर लगाया हुआ एक अनुमान है—कि दूसरे के साथ ऐसा हुआ, इसलिये हमारे साथ भी होगा। × × × "मैं हूँ, के साथ उसका उलटा कुछ नहीं है, "मैं नहीं हूँ" यह बोध नहीं है, बल्कि बोध का न होना है।"

6
परिशिष्ट—1
अज्ञेय—व्यक्ति

1. पूरा और वास्तविक नाम—सच्चिदानद हीरानद वात्स्यायन 'अज्ञेय'।

2. जन्म-स्थान—गोरखपुर के समीप देवरिया जिले के कसमा[1] पुरातत्त्व-खुदाई शिविर मे।

3. जन्म-काल—7 मार्च, सन् 1911 ई०।

4. पिता का नाम—डॉ० हीरानद शास्त्री।

5. बाल्यकाल—लखनऊ, कश्मीर, बिहार और मद्रास मे व्यतीत किया।

6 शिक्षा—प्रारम्भिक शिक्षा घर मे हुई किन्तु उच्च शिक्षा मद्रास और लाहौर (पजाब) मे। अपने पिता (पुरातत्त्व-वेत्ता तथा शोधक) डॉ० हीरानद शास्त्री के सम्पर्क मे सस्कृत-साहित्य एव भारतीय कलाओ के सम्बन्ध मे ज्ञानार्जन किया। साहित्य के अध्ययन के साथ-साथ बमबाजी तथा विषैले रसायनो के अध्ययन में भी रुचि लेते रहे। एम०ए० (अग्रेजी) उत्तरार्द्ध मे क्रांतिकारी षड्यत्रो में शामिल होने के अपराध मे गिरफ्तार होने के कारण विधिवत् अध्ययन छोडना पडा।

7. विशेष—आरम्भ से क्रांतिकारी और विद्रोही स्वभाव के रहे। इसलिए 'परम्परा' के प्रति सर्वथा आक्रोश, विद्रोह और नकारात्मक स्वर तथा 'प्रयोग' एव 'स्वातन्त्र्य के अन्वेषक' के रूप मे प्रख्यात। यही कारण है कि अज्ञेय का निजी तथा लेखक—व्यक्तित्व भीड-भाड से सर्वथा अलग और विशिष्ट धरातल पर अधिष्ठित है, जिसे पहचानने मे किसी को न तो कोई भ्रम होता है और न ही

1 'शेखर . एक जीवनी' की भूमिका में अज्ञेय ने लिखा है '
'शिशु-मानस के चित्रण की सच्चाई के लिए मैंने 'शेखर' के आरम्भ के खण्डों में घटनास्थल अपने जीवन से ही चुने हैं " (पृ० 11)।
स्पष्ट है कि शेखर के जन्म और जीवन की कहानी जैसे अज्ञेय के स्वय निजी जन्म-जीवन की कहानी (वृत्त अथवा घटना) बन गई हो। इस धारणा की विश्वसनीयता तथा पुष्टि और भी अधिक वहाँ (उन स्थलो पर) हो जाती है, जहाँ-जहाँ उन्होंने युद्ध के सकेतो से सम्बद्ध प्रसंगो का आयोजन व आलेखन किया है (जैसे, 'शेखर एक जीवनी' भाग-1, सस्करण 1966, पृ० 47-48)।

बन जाता है। डॉ० रामदरश मिश्र का इस सदर्भ में यह कहना, अत सही प्रतीत होता है कि अज्ञेय पर फ्राइड, एडलर, युग, मार्क्स, सार्त्र, इलियट आदि अनेक चिन्तकों का प्रभाव है किन्तु वे सब मिलाकर 'अज्ञेय' हैं। इस प्रकार इनका कृतित्व अनुभवो के सातत्य और नैरन्तर्य्य को समग्रत आत्मसात् करता चलता है।

ऊपर के समग्र विवेचन विश्लेषण से इस निष्कर्ष तक आसानी से पहुँचा जा सकता है कि अज्ञेय के उपन्यासो म 'वस्तु' और 'शिल्प' का प्रायोगिक सधान है, रचना-प्रक्रिया की बौद्धिकता तथा सम्प्रेषणीयता है तथा बौद्ध दर्शन, ईसाई 'सफरिंग' और सबसे बढकर अस्तित्ववादी धारणा की सम्पुष्टि की प्रयत्न-साधना है। इस प्रकार, इनके उपन्यासों मे निहित और व्यक्त चिन्तन-दृष्टि की नव्यता इसकी मूल्यवत्ता को विधेयात्मक तौर पर प्रमाणित करती है।

अज्ञेय के उपन्यासों का 'वस्तु' तत्त्व जितना अधिक सश्लिष्ट है, उससे भी अधिक कहीं उनमे 'गहराई' है। इसीलिए 'विषय' और 'वस्तु' के अनुरूप उनमे शैल्पिक नव्यता और प्रायोगिक सधान की प्रमुखता लक्षित होती है। अज्ञेय ने अपने उपन्यासो मे आधुनिकता की चुनौती का साक्षात्कार सवेदना के स्तर पर किया है। अत उनमे जीवन के उतार-चढाव की स्वाभाविकता दिखाई पडती है। उनम न कोई आवरण है, न किसी प्रकार का आरोपण-व्यापार। उनकी सबसे बडी निपुणता इस बात मे है कि अपने अनोखे शिल्प के माध्यम से वे जीवन के आवरणो और परतों को अनावृत्त तथा विश्लेषित करते चलते हैं। उनके उपन्यासो का 'वस्तु' तत्त्व जितना जटिल और गहरा है, 'शिल्प' उतना ही नया, आधुनिक और जीवन्त। उनकी यही 'जीवन्तता' उनके परवर्त्ती उपन्यासकारो का पथ-प्रदर्शन करती रही। अत निष्कर्ष के बतौर कहा जा सकता है कि अज्ञेय के उपन्यासो का रग और स्वाद अकेला और अनूठा है - सबसे पृथक् और विशिष्ट।

••

7

परिशिष्ट—2

अज्ञेय के उपन्यास-ग्रंथ

1. शेखर : एक जीवनी, भाग 1-2
2. नदी के द्वीप
3. अपने-अपने अजनबी

अज्ञेय के अन्य ग्रंथ (जिनकी सहायता ली गई)

4. आत्मनेपद
5. हरी घास पर क्षण भर
6. लिखि कागद कोरे
7. हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य

अपरोक्ष अन्य सहायक ग्रंथों की सूची

8. परख—जैनेन्द्र कुमार
9. सुनीता—जैनेन्द्र कुमार
10. त्यागपत्र "
11. कल्याणी "
12. सुखदा "
13. विवर्त्त "
14. व्यतीत "
15. जयवर्द्धन "
16. मुक्तिबोध "
17. साहित्य का श्रेय और प्रेय—जैनेन्द्र
18. सन्यासी—इलाचन्द्र जोशी
19. जिप्सी—इलाचन्द्र जोशी
20. सुबह के भूले "
21. जहाज का पंछी "
22. ऋतुचक्र "
23. विवेचना "
24. विश्लेषण "
25. आज का हिन्दी-उपन्यास—डॉ० इन्द्रनाथ मदान
26. विचार और अनुभूति—डॉ० नगेन्द्र
27. विचार और विश्लेषण—डॉ० नगेन्द्र
28. कहानीकार जैनेन्द्र : अभिज्ञान और उपलब्धि—प्रो० जगदीश पाण्डेय
29. हिन्दी-उपन्यास : उपलब्धियाँ—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
30. नया साहित्य : नये प्रश्न—नन्ददुलारे वाजपेयी
31. हिन्दी उपन्यास—डॉ० सुषमा धवन
32. अज्ञेय का कथा-साहित्य—ओम् प्रभाकर
33. आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान—डॉ० देवराज उपाध्याय

कठिनाई। विद्रोही व क्रांतिकारी प्रकृति के प्रमाणस्वरूप सन् 1930 ई० की वह घटना अपने आप मे पर्याप्त है, जबकि पुलिस के साथ कुछ महीने चोर-छिपौवल करके (नवम्बर, सन् 1930 ई० मे) 'मुहम्मद बख्श' नाम से पकडे जाकर वे एक महीना लाहौर किले मे और साढ़े तीन वर्ष दिल्ली और पजाब की जेलो मे रहे। पुन दो मास लालकिले में एव दो वर्ष नजरबन्द रहे।

8 व्यवसाय—व्यवसाय के नाम पर अज्ञेय ने तीन साल (सन् 1943-1946 ई०) तक सेना (फौज) में भर्ती होकर, आसाम-बर्मा सीमान्त पर तथा युद्ध समाप्त होने पर पजाब-पश्चिम-सीमान्त पर सेवा की। तदनन्तर (लगभग दो वर्ष से कुछ अधिक समय तक) 'ऑल इण्डिया रेडियो' मे नौकारी करते रहे। फिर, कुछ समय बाद भारतीय साहित्य और सस्कृति के प्राध्यापक के रूप मे वे अमेरिका मे अध्यापन-कार्य करते रहे।

9. हॉबी—साहित्य और लेखन के अतिरिक्त यायावर वृत्ति, चित्रकला, मूर्तिकला, फोटोग्रॉफी और मनोविश्लेषण, बढ़ईगीरी, मोचीपन आदि-आदि।

10 पत्रकारिता—'सैनिक' (आगरा), 'बिजली' (पटना, बिहार), 'विशाल भारत' (कलकत्ता) का सम्पादन। फिर 'प्रतीक' (द्वैमासिक—इलाहाबाद एव दिल्ली, सन् 1946—51) का स्थापन व सम्पादन-कार्य। हिन्दी के सुप्रसिद्ध साप्ताहिक समाचार-पत्र 'दिनमान' के सर्वप्रथम सम्पादक। 'नवभारत टाइम्स' का सम्पादन-कार्य भी किया। इस प्रकार, पत्रकारिता अज्ञेय के लेखक-व्यक्तित्व के *अभिन्न एव अनन्य अग के साथ-साथ, इनकी महत् उपलब्धि रही है।*

11 विदेश-यात्रा—सन् 1955 ई० मे यूनेस्को की वृत्ति पर यूरोप गए। सन् *1957* ई० मे जापान और पूर्वी *एशिया का परिभ्रमण किया। 1966 में* पहली बार यूरोप की यात्रा की। अमेरिका की यात्रा एकाधिक बार की। इसके *अतिरिक्त रूमानिया, यूगोस्लाविया, रूस तथा मगोलिया आदि का भी उन्होंने* विधिवत् भ्रमण किया।

वस्तुत *अज्ञेय का जन्मजात यायावर* बने रहना उनके प्रगतिशील व्यक्तित्व का एक ऐसा ऐकान्तिक वैशिष्ट्य है, जो हर क्षण 'प्रयोग के अन्वेषण' तथा 'सापेक्ष चिन्तन' के लिए इन्हें उत्प्रेरित किया करता है। इस दृष्टि से, उनके भ्रमणशील जीवन से सम्बद्ध वृत्तान्तो के सग्रह 'अरे यायावर रहेगा याद' (सन् 1953 मे प्रकाशित) की सार्थकता स्वयसिद्ध हो जाती है।

पुरस्कार • 'आँगन के पार द्वार' साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत। 'कितनी नावों मे कितनी बार' (काव्य-सग्रह) भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार (एक लाख रु०) से सन् 1978 मे पुरस्कृत।

34. जैनेन्द्र और उनके उपन्यास—रघुनाथ शरण झालानी
35. प्रतिक्रियाएँ—डॉ० देवराज
36. आधुनिक समीक्षा—,,
37. हिन्दी नवलेखन—रामस्वरूप चतुर्वेदी
38. अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या—रामस्वरूप चतुर्वेदी
39. हिन्दी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियाँ— ,, ,,
40. हिन्दी कथा-साहित्य—गगाप्रसाद पाण्डेय
41 साहित्यानुशीलन—शिवदानसिंह चौहान
42 हिन्दी उपन्यास—रामदरश मिश्र
43 उपन्यासकार अज्ञेय—केदार शर्मा
44 हिन्दी उपन्यास—शिवनारायण श्रीवास्तव
45 हिन्दी-उपन्यास मे कथा शिल्प का विकास—डॉ० प्रेमनारायण टडन
46 अज्ञेय के उपन्यासो का शिल्प विधान—डॉ० सत्यपाल चुघ
47. अज्ञेय का रचना-ससार—स० डॉ० गगा प्रसाद विमल
48. अस्तित्ववाद और नयी कविता—प्रकाश दीक्षित

पत्र-पत्रिकाएं

1 आलोचना—इतिहास विशेषाक, 2 साहित्य-सदेश, अक्तूबर, 1943
3 ज्ञानोदय, जुलाई 1963, 4 प्रतीक, 5 माध्यम।

ENGLISH

1 The Making of Literature—Scott James
2 English Literature and Ideas in the Twentieth Century —Dr H V Routh
3 The Craft of Fiction—Parsi Luwak
4 The Psychological Novel—Leon Edel
5 English Literature of the 20th Century—A S Collins
6 Understanding Human Nature—Adler
7. Tendencies of Modern Novel—H Walpole
8. History of English Literature—Cazaimain
9 Literature and Reality—H Fast
10 Psycho Analytical Method and the doctrine of Freud —Dalbez
11 Sartre—Iris Murdoch
12 What is Literature—Jean Paul Sartre ••